जैन भारती

मार्च, 2009 • वर्ष 57 • अंक 3 • वार्षिक रु. 200.00

With best compliments from :

THE KALYANI TEA CO. LTD.

MAKERS OF FINEST QUALITY OF
GREEN / ORTHODOX / CTC TEAS

Head Office :
16, Bonfield Lane, KOLKATA 700001
Phone & Fax : (033) 2242-6141

Garden :
Kenduguri Tea Estate
P.O. RAJGARH, DIST. DIBRUGARH, ASSAM
Phone : (03754) 276646 Fax : (03754) 276627

शुभू पटवा
मानद संपादक
●
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

वर्ष 57 ● मार्च, 2009 ● अंक 3

विमर्श

11
डा. विक्रमजीत
भोग, त्याग और अपरिग्रह : एक विमर्श

19
मुनि मोहनलाल 'शार्दुल'
आभामंडल : एक विमर्श

●
आवरण
कमल श्रीमाली

अनुभूति

27
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
आस्था : स्वयं के प्रति

32
युवाचार्यश्री महाश्रमण
श्रुत आराधना : अज्ञान क्षय

35
डा. पुष्पलता जैन
होली : आध्यात्मिक तेवर

39
कहानी
ज्ञानरंजन
अमरूद का पेड़

42
कविता
मुकेश व्यास की कविताएं

प्रसंग

7
शुभू पटवा
स्त्री : समाज की धुरी

शीलन

45
इला र. भट्ट
उच्च ध्येय के लिए आगे बढ़िए

50
मुनि अक्षयप्रकाश
नई अर्थशास्त्रीय अवधारणा की तलाश

53
साध्वी निर्वाणश्री
पुरिसा : परमखक्खू विप्परकमेज्जा

55
बालकथा
कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'
चार बाल बोध कथाएं

संपादकीय पता : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर ● फोन : 0151-2270305, 2202505
प्रकाशकीय कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
प्रधान कार्यालय : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
सदस्यता शुल्क : वार्षिक 200/- रुपये ● त्रैवार्षिक 500/- रुपये ● दसवर्षीय 1500/- रुपये

स्वामियां बताते रहते

वेणीरामजी स्वामी छोटी अवस्था में थे तब वे स्वामियां बताते रहते—स्वामीजी! आपने बिना देखे और बिना प्रमार्जन किए पैर पसार दिए।

एक दिन वेणीरामजी स्वामी कुछ दूर बैठे थे। स्वामीजी ने गुप्तरूप से प्रमार्जन कर पैर पसारे और साधुओं से कहा—देखो, वह वेणा दूर बैठा देख रहा है।

इतने में वेणीरामजी स्वामी बोल उठे—वह देखो, स्वामीजी ने बिना देखे पैर पसार दिए।

तब स्वामीजी और पास बैठे दूसरे साधु मुस्कराने लगे। साधुओं ने कहा—स्वामीजी ने प्रमार्जन कर पैर पसारे हैं।

तब वेणीरामजी शरमाए हुए स्वामीजी के पास आ पैरों में पड़ गए।

ऐसे थे विनम्र वेणीरामजी

पीपाड़ की घटना है, वेणीरामजी स्वामी दूसरी दूकान में बैठे थे। स्वामीजी ने उन्हें—ओ वेणीराम! ओ वेणीराम!—इस प्रकार दो-तीन बार पुकारा। पर वे वापस बोले नहीं।

तब स्वामीजी ने गुमानजी लूणावत से कहा—लगता है वेणा संघ से अलग होगा।

तब गुमानजी वेणीरामजी स्वामी के पास जाकर बोले—आपको स्वामीजी ने पुकारा, आप बोले नहीं, इस पर स्वामीजी ने कहा—लगता है वेणा संघ से अलग होगा।

यह सुन कर वेणीरामजी स्वामी भयभीत हो गए और स्वामीजी के पास आ उनके चरणों में गिर पड़े।

तब स्वामीजी बोले—रे मूर्ख! पुकारने पर वापस बोलता नहीं?

तब वेणीरामजी स्वामी विनम्रता के साथ बोले—महाराज! मैंने सुना नहीं।

उन्होंने बहुत विनम्रता की।

ऐसे थे विनीत वेणीरामजी स्वामी और ऐसे थे शक्तिशाली स्वामीजी। ●

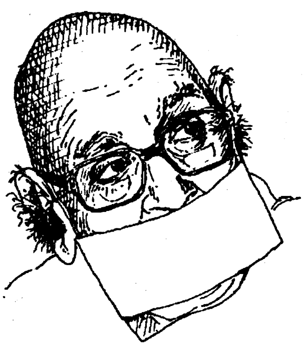

यह प्रश्न हो सकता है कि आदमी जब स्वयं ही चिंतनशील एवं विवेकशील प्राणी है, तो फिर उसे पथ-दर्शन की क्या अपेक्षा है ? यह ठीक है कि आदमी में चिंतन है, विवेक करने की शक्ति है, पर साथ ही यह भी मानना होगा कि खतरा भी आदमी से ही सबसे अधिक है। हिंसक-से-हिंसक पशु भी—अपवादिक स्थिति की बात छोड़ कर—बिना भूख या बिना प्रयोजन के दूसरों के लिए खतरा नहीं बनता, पर मनुष्य से हरदम खतरा बना रहता है। वह ऊपर-से-ऊपर उठ सकता है तो नीचे-से-नीचे भी जा सकता है। इसलिए उसे पथ-दर्शन की सदा अपेक्षा रहती है।

मनुष्य के इस विकास और ह्रास की यथार्थता को समझने के लिए भावों का ज्ञान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। हम सूत्र रूप में यह स्वीकार करें कि हमें आत्मोत्थान के विकास की जो भी स्थिति प्राप्त होती है, वह औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक—इन तीन भावों से ही प्राप्त होती है। इसके विपरीत आत्म-पतन या धार्मिक ह्रास की जो भी स्थिति बनती है, वह एकमात्र औदयिक-भाव के कारण बनती है। कुछ लोग अज्ञानवश ऐसा कह दिया करते हैं कि पुण्योदय से हमें संतों के दर्शन प्राप्त हुए, प्रवचन सुनने को मिला। उन्हें खयाल रखना चाहिए कि पुण्योदय से धन, संपत्ति, संतान आदि भौतिक चीजें प्राप्त हो सकती हैं, पर ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि तत्त्व पुण्योदय से कभी प्राप्त नहीं हो सकते। ये सब तत्त्व तो कर्मों के उपशम, क्षयोपशम एवं उनके क्षय से ही उपलब्ध हो सकते हैं।

—आचार्यश्री तुलसी

जैन दर्शन का सिद्धांत आत्मवाद का सिद्धांत है। आत्म-प्राप्ति के लिए, आत्मदर्शन के लिए, आत्म-साक्षात्कार के लिए साधना की अपेक्षा होती है और वह साधना है—राग-द्वेष मुक्ति की साधना। जिस उपक्रम के द्वारा आदमी का राग-द्वेष शांत हो सके—चाहे स्वाध्याय से हो, ध्यान से हो, अनुप्रेक्षा से हो, अथवा अन्य किसी तरीके से हो—वही रास्ता सबसे अच्छा रास्ता है। आदमी ज्ञाता-द्रष्टा भाव का विकास करे और जो भी घटना सामने आए, उसे बिना राग-द्वेष के देखना सीखे। जीवन में समस्याएं आ सकती हैं, समस्या का आना एक बात है और समस्या से दुखी हो जाना दूसरी बात है। महापुरुषों के जीवन में भी समस्याएं आई हैं। गुरुदेवश्री तुलसी को हमने निकटता से देखा है। उनके जीवन में भी अनेक-अनेक समस्याएं आईं। गुरुदेवश्री तुलसी तो उच्च कोटि के साधक थे, बड़े मनोबली व्यक्ति थे। वे समस्याओं से प्रायः अप्रभावित रहते हुए उनका समाधान खोजने का प्रयास करते थे। महापुरुष सक्षम होते हैं, साधना-संपन्न होते हैं—वे समस्याओं का समाधान खोज लेते हैं, उन्हें भोगते नहीं हैं। अतः साधनाशील व्यक्ति समस्या को देखना सीखें, हल निकालना सीखें, किंतु उसे भोगें नहीं। तभी वह साधना के क्षेत्र में विकास का मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

—युवाचार्यश्री महाश्रमण

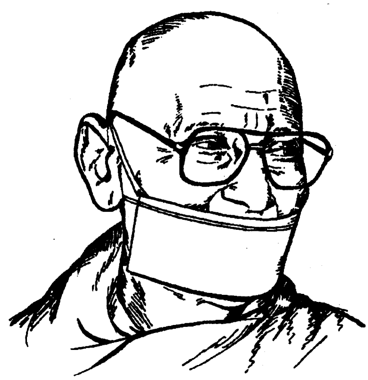

हर प्राणी में अनंत-शक्ति है, पर वह प्रकट नहीं हो रही है। उसका एक कारण है—प्रतिघात या बाधा। प्रतिघात आते रहते हैं। उनसे शक्ति में व्याघात होता है। सबसे बड़ा व्याघात है—भय। भय के कारण अच्छी बात भी नहीं आती। मनुष्य में हर बात का भय है। बुराई से ही नहीं, अच्छाई से भी भय है। यह भय शक्ति को जगने नहीं देता। यदि मनुष्य अभय हो जाए, तो शक्ति के विकास का बहुत बड़ा स्रोत सहज ही प्राप्त हो जाए। पर, अभय होना बहुत अधिक कठिन है। अभय और प्रेक्षा एक ही है। जो देखता है, प्रेक्षा करता है—वह कभी डरता नहीं और जो डरता है, वह कभी देखता नहीं। डरता वही है, जो केवल कल्पना और स्मृतियों में जीता है। द्रष्टा कभी डरता नहीं। वह तो सचाई को देखता है। उसे भय नहीं होता। भय होता है कोरी कल्पना से। कल्पनाएं जितनी बढ़ेंगी, भय भी बढ़ेगा। कल्पना का अपर नाम है—भय। कल्पनाओं के ताने-बाने से भय ही निकलता है। जिसने देखने का अभ्यास शुरू किया है, उसने भय को समाप्त करने का मार्ग चुन लिया है। वहां भय टिक नहीं सकता।

दूसरा प्रतिघात है—आलस्य। आदमी में एक बुरी आदत यह होती है कि वह कर सकता है, पर करता नहीं। यदि इस आदत में परिवर्तन आता है, तो शक्ति का बड़ा स्रोत प्रकट हो सकता है। यदि जीवन-विश्लेषण किया जाए तो ज्ञात होगा कि आदमी अनेक सफलताओं से इसीलिए वंचित रह जाता है कि अनेक कार्य कर सकते हुए भी किए नहीं। आदमी फिर पछताता है, अनुताप करता है और सोचता है कि—'ओह! यह तो मैं भी कर सकता था।'

सबसे प्रमुख बात है कि आदमी को अपनी सामर्थ्य या शक्ति का भान नहीं होता और यदि शक्ति का भान हो जाता है तो वह आलस्यवश काम नहीं करता—जो कि कर सकता था।

एक भाई ने कहा—अब व्यापार करने की इच्छा नहीं। दाल-रोटी का पूरा इंतजाम है। फिर व्यापार करके क्या करना है ?

मैंने पूछा—यह अंतरात्मा का विराग है या आलस्य है ? यदि वास्तव में तुम्हारे मन में अपरिग्रह की चेतना जागी है, तो साधुवाद और यदि आलस्यवश, प्रमादवश व्यापार से मुक्त होना चाहते हो, तो तुम स्वयं बिगड़ोगे और अपनी पीढ़ी को भी बिगाड़ोगे। क्योंकि जो आदमी निकम्मा होकर बैठ जाता है, वह अपनी संतान का बहुत अनर्थ करता है। जिसे मुफ्त में रोटी खाने की आदत पड़ जाती है, उसकी संतान कभी विकासशील नहीं हो सकती। जो संतान बाप की कमाई पर पलती है, वह भी अच्छी संतान नहीं हो सकती। लोग मान बैठते हैं कि पूर्वजों की संपत्ति प्राप्त हुई है, अब बैठे-बैठे खाओ। ऐसा मानना बड़ा अभिशाप है। जो व्यक्ति अपनी दस अंगुलियों से पुरुषार्थ करके नहीं कमाता, जो बाप-दादों की कमाई पर निर्भर रहता है—वह अच्छा मनुष्य नहीं हो सकता। अच्छा मनुष्य वह होता है, जो अपने पुरुषार्थ और शक्ति के बल पर चलता है, उसी का भरोसा करता है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

स्त्री : समाज की धुरी

स्त्री-जाति समाज की प्रमुख धुरी है—यह सब स्वीकार करते हैं, पर जब उसके अधिकारों की बात होती है तो समाज का 'प्रभु वर्ग' गलियां निकालने के प्रयत्न करता है और वे अधिकार भी देने में हिचकिचाहट होती है, जिसके ढिंढ़ोरे पीटे जाते रहे हैं। इस बात की पुष्टि के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं, हमारे अपने 'कर्णधारों' की ओर ही हम देख लें। महिलाओं के लिए संसद में तैंतीस प्रतिशत आरक्षण की बात यह प्रमाण है कि सारे गाल बजाने के बाद भी यह कानून नहीं बन सका, जबकि 14वीं लोकसभा का अवसान निकट है और इसी साल अप्रैल-मई तक चुनाव हो जाने हैं। राजनीतिक अधिकारों के लिए महिला-समाज का संघर्ष अभी भी जारी है और समाज के पुरुष वर्ग का एक हिस्सा भी स्त्री वर्ग के इस संघर्ष में साथ है और यह भी स्पष्ट ही लगता है कि अगली लोकसभा में भी उनका संघर्ष जारी रहने वाला है।

महिला अधिकारों के लिए संघर्ष का यह एक पक्ष है, पर यह हासिल हो जाने भर से स्त्री-जाति के साथ आज जो-कुछ हो रहा है—वह सब समाप्त हो जाएगा, ऐसा मान लेना भारी खुशफहमी होगी। हम मानते हैं कि ऐसा कोई मान भी नहीं रहा, न वे जागरूक महिलाएं और न वह पुरुष वर्ग जो स्त्री-जाति के लिए उनके संघर्ष में साथ-साथ हैं। तब राजनीतिक अधिकारों के साथ-साथ कुछ अन्य पक्षों—जो कि काफी महत्त्वपूर्ण हैं—की ओर भी ध्यान देने की जरूरत है, बल्कि काफी गंभीरता से यह सोचना आवश्यक है कि महिलाओं के साथ होने वाले भेदभाव और इसीसे पैदा होने वाली हिंसा से स्त्री-समाज को कैसे मुक्त कराया जाए। महिला आयोग से लेकर अन्यान्य जन संगठन महिला अधिकारों की रक्षा और उनकी बेहतरी के लिए प्रतिबद्ध होते हुए भी लिंग भेद-भाव, दलित महिलाओं-किशोरियों में व्याप्त असुरक्षा भाव और ग्रामीण महिलाओं के साथ होने वाले बरताव की बेरहम कहानियां आए दिन सुनने को मिलती हैं। कभी डायन बता कर होने वाले अन्याय की शिकार किसी को बनना पड़ता है तो कभी अछूत बता कर यह वर्ग अनहोनी का शिकार हो जाता है। इन सब परिस्थितियों की ओर भी उतना ही ध्यान देने की आवश्यकता है, जितना कि राजनीतिक अधिकारों के लिए।

निश्चय ही राजनीतिक अधिकार पाने से आने वाला आत्म-विश्वास ऐसी सब बेइंसाफियों के विरुद्ध संघर्ष में सर्वाधिक असरदार होता है। तिहत्तरवें संविधान संशोधन से पंचायती राज प्रणाली में महिलाओं को मिले अधिकारों और आरक्षण की व्यवस्था से यह बात स्पष्ट है। वे ग्रामीण महिलाएं, जो घूंघट की ओट में चूल्हा-चाकी और

ढोर-पशुओं की देखभाल तक सीमित थीं, स्थानीय स्वशासन में उनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका के लक्षण अब साफ दिखाई दे रहे हैं। पंचायतों में आरक्षण से ग्रामीण क्षेत्रों की कोई बारह लाख से अधिक महिलाएं सार्वजनिक क्षेत्र में दखल दे रही हैं। हमारे समाज की ये औरतें वे हैं, जिनकी न आवाज थी और न अस्तित्व। स्पष्ट है कि राजनीतिक अधिकार बेइंसाफियों के विरुद्ध एक माकूल अस्त्र सिद्ध हो सकता है।

संविधान का यह तिहत्तरवां संशोधन (सन् 1992) आए अभी सोलह-सतरह वर्ष ही बीते हैं, पर महिला अधिकारों और दायित्वों के सवाल पर तो हमारे देश में हमेशा ही सोचा जाता रहा है। प्राचीन भारत की विदुषी नारियों के नाम हम सदा ही गिनाते रहे हैं और—'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते, रमंते तत्र देवता'—जैसे सूक्त भी बोलते रहे हैं और इन बातों को चरितार्थ करने वाले भी हमारे सामने हैं। ऐसे जन संगठनों के नाम गिनाए जा सकते हैं जो महिला सशक्तीकरण के लिए अनुकरणीय काम कर रहे हैं। 'सेवा—स्वाश्रयी महिला सेवा संघ'—जो अप्रैल 1972 में स्थापित हुआ, ऐसा ही एक जन संगठन है। इस समय कोई दस लाख से अधिक महिलाएं देश भर में इस संगठन से जुड़ी हैं। स्वनामधन्य इला र. भट्ट (इसी अंक में पढ़ें; उनके विचार पृ 45 पर) 'सेवा' की संस्थापक हैं। यह संगठन सीधे तौर पर राजनीतिक अधिकारों की बात भले नहीं करता, पर प्रकारांतर से महिला अधिकारों की सभी बातों से किसी संगठन का विलगाव भी नहीं रह सकता।

इसी तरह 'अखिल भारतीय तेरापंथ महिला मंडल' एक दूसरा संगठन है, जिसकी बुनियाद अध्यात्म और नैतिकता है। अणुव्रत आंदोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी की प्रेरणा से यह संगठन अस्तित्व में आया है। जिस वर्ग में यह संगठन काम कर रहा है, वह न स्वाश्रयी वर्ग है और न तीव्र राजनीतिक आकांक्षा इस महिला संगठन की अब तक परिलक्षित हुई है। एक नैतिक समाज के निर्माण में इस संगठन की भूमिका है, जो अपेक्षतया अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके भी लगभग पचपन हजार सदस्य हैं और देश भर में तीन सौ सत्तर शाखाएं काम कर रही हैं। भगवान महावीर ने—जो ईसापूर्व सन् 599 में जन्मे—अपने धर्म संगठन में चंदनबाला को साध्वीप्रमुखा का पद दिया। तब उनके संगठन में 36 हजार साध्वियां थीं; इसके उलट साधु मात्र 14 हजार ही थे। इस तफसील से यह स्पष्ट हो जाता है कि महिलाओं के अधिकार, उनके स्वाभिमान और उत्तरदायित्वों के प्रति हर युग में भारतीय समाज सोचता रहा है और इस दिशा में कदम भी उठे हैं। निश्चय ही यह पृष्ठभूमि वर्तमान स्त्री-संघर्ष में न केवल सहायक है, एक ऐसा इतिहास भी सामने आता है जो उत्प्रेरक होने के साथ-साथ दिशाबोध भी दे सकता है।

मुझे लगता है कि इस बार 8 मार्च अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस पर इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ महिला अधिकारों पर हमें व्यापक बहस करनी चाहिए। हमारे सामने भगवान महावीर, आचार्यश्री तुलसी और महात्मा गांधी, से लेकर इलाबेन भट्ट तक की एक विराट पृष्ठभूमि है। इसी के साथ संविधान के तिहत्तरवें संशोधन से पंचायत राज प्रणाली में तैंतीस प्रतिशत महिला आरक्षण से ग्रामीण महिलाओं की भूमिका भी हमारे सामने है। महात्मा गांधी और आचार्यश्री तुलसी ने जिस तरह के ढांचे की आकांक्षा की थी तथा आचार्यश्री महाप्रज्ञजी आज जैसे ढांचे के निर्माण के लिए लगे हुए हैं—इन सबके चलते भी वह पार नहीं पड़ रहा है और अधिकारों व दायित्वों के निरस द्वंद्व में मूल बात बिसर रही है।

यह मूल बात क्या है? इस पर हमारी नजर होनी चाहिए। इस मूल बात पर कहा-सुना बहुत गया है। यह न होता तो इला र. भट्ट पूरी दुनिया में स्वाश्रयी महिलाओं की बेहतरी के लिए जानी ही नहीं जातीं। कहने का तात्पर्य यह कि हमारा आधार हमारे पास मौजूद है, परीक्षण और कसौटियों पर भी यह आधार कसा जा चुका है, फिर भी विषमता और विसंगतियां, हिंसा और अत्याचार का फन अभी भी ऊपर उठता है और फुफकार भी देता है। इसका शमन हो और इस दिशा में आगे बढ़ें—एक समरसता और सहजीवी सामाजिक ढांचा व्यापक रूप ग्रहण करे—ऐसे कदम उठने जरूरी हैं।

अधिकार और दायित्व के साझा संघर्ष के कदमों में ही इसकी फलश्रुति निहित है—हमें यह मान लेना चाहिए और इसी दिशा में अग्रसर होना चाहिए। अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस पर इस बार ऐसी अपेक्षा स्वाभाविक है।

—शुभू पटवा

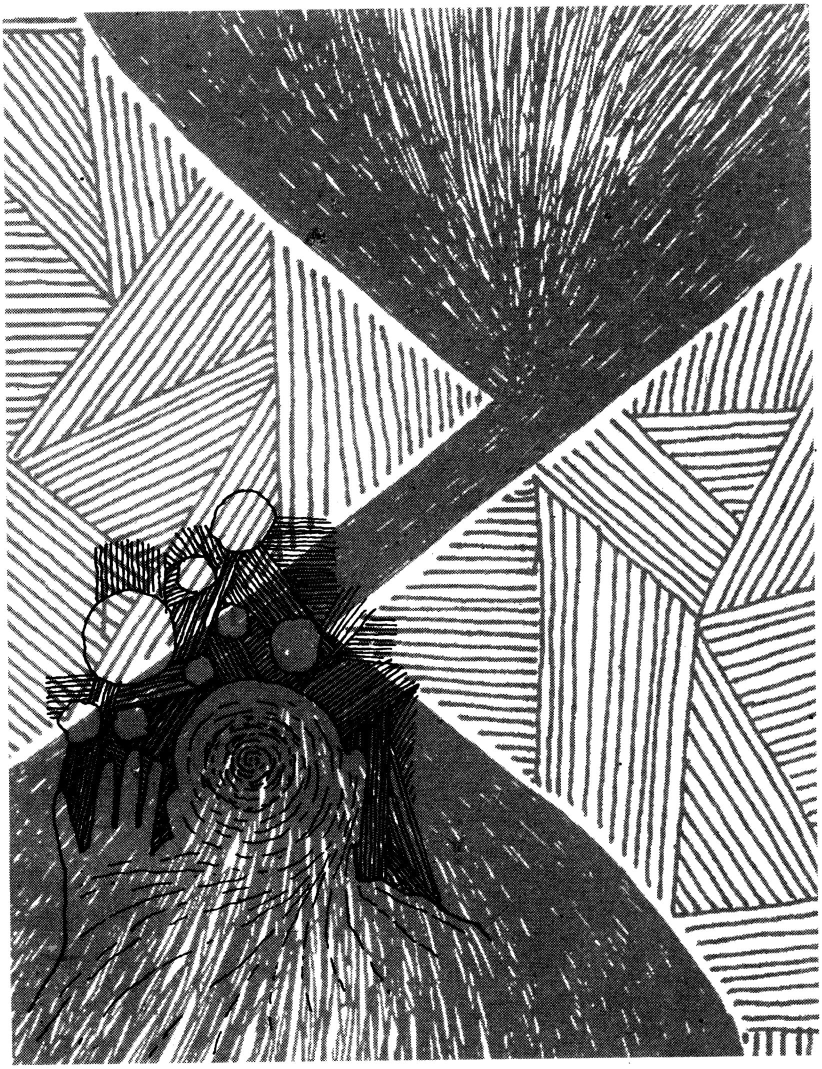

विमर्श

जीवन जैसा भी है इसे हमें देखना है—इसमें व्याप्त अनंत दुख एवं अशांति तथा इससे पलायन करने के लिए धार्मिक अंधविश्वासों की शरण में चले जाना या राज्य के प्रति समर्पित हो जाना अथवा विभिन्न प्रकार के मनबहलाव का सहारा लेना—इन सभी को हमें देखना है। हमें यह भी देखना है कि व्यक्ति पलायन करके विक्षिप्त स्थिति में कैसे पहुंच जाता है, क्योंकि विक्षिप्तता सुरक्षा का एक असाधारण बोध देती है। जो आदमी विश्वासों में जीता है—वह विक्षिप्त है। जो आदमी एक प्रतिमा या प्रतीक की पूजा करता है—वह विक्षिप्त है। ये विक्षिप्तता की दशाएं हैं, जिसमें आदमी को परम सुरक्षा और बचाव का अनुभव होता है। किंतु, यह आपके भीतर एक आत्यंतिक क्रांति को जन्म नहीं देता। ऐसी क्रांति के लिए यह आवश्यक है कि आप चुनाव-रहित ढंग से अवलोकन करें, जिसमें इच्छा, सुख या भय द्वारा उत्पन्न विकृति न हो। आप वस्तुत: जो-कुछ हैं, उसका बिना किसी पलायन के सही-सही अवलोकन करें। और, इस अवलोकन के क्रम में आप जो-कुछ देखते हैं, उसे कोई नाम न दें, बल्कि सिर्फ अवलोकन करते चले जाएं। तभी आपके पास अवलोकन करने की ऊर्जा एवं उत्कटता होगी और इसी अवलोकन में एक प्रचंड परिवर्तन का आगमन होता है।

— जे. कृष्णमूर्ति

भोग, त्याग और अपरिग्रह : एक विमर्श

अर्थशास्त्र की दृष्टि केवल मनुष्य को सुखी बनाने की है, जबकि अपरिग्रह की दृष्टि मनुष्य को शांत बनाने की है। यद्यपि सुख और शांति में कोई अंतर्विरोध नहीं है। ऐसा नहीं है कि सुख और शांति का सहावस्थान नहीं हो सकता, तथापि अपनी मूलप्रकृति में सुख पदार्थाश्रित है तथा शांति आत्माश्रित। जब लक्ष्य में सुख रहता है तो सारी शक्ति पदार्थ के संग्रह-उपभोग में ही खप जाती है। यहीं दूसरी बात यह है कि सुख के प्राप्त हो जाने के पश्चात् भी शांति मिले या न मिले, पर शांति के प्राप्त हो जाने पर सुख न भी मिले तो चल सकता है। सुख तो शरीर और इंद्रियों की अनुभूति है, जबकि शांति मन और आत्मा की अनुभूति है। आत्मानुभूति को हर मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए सामान्य मानव को पदार्थ और आत्मा के मध्य संतुलन बिठाना पड़ता है। अपरिग्रह उस संतुलन का ही एक संकेतसूत्र है।

❑

डा. विक्रमजीत

❑ ❑

मनुष्य-जीवन एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। पौराणिक काल से लेकर आज तक नाना रूपों में इसके महत्त्व का गान होता रहा है। वेदव्यास कहते हैं—**न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किंचित्**।—मनुष्यत्व से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। मानस में गोस्वामीजी ने भी यही बात दोहराई है—

बड़े भाग मानुषतन पावा।
सुर - नर - मुनि - सब ग्रन्थहि गावा।।

इस दृश्यमान दुनिया में वही (मानव) एक प्राणी है जिसके पास सर्वाधिक बुद्धि-कौशल है। किंतु, उस बुद्धि-कौशल का यह अर्थ कदापि नहीं होना चाहिए कि वह दूसरों का अहित करे। दूसरों के साथ सामंजस्य स्थापित कर अपना विकास करने में ही जीवन की सार्थकता है।

मनुष्य जीवन के विकास की दो दिशाएं हैं। पहली भौतिक एवं दूसरी आध्यात्मिक। जीवन को मात्र भौतिक उपलब्धि समझने वाले लोग सहजरूप से भोगवाद की ओर अग्रसर होते हैं। उनकी दृष्टि केवल भोगपरक होती है। उनका लक्ष्य मात्र पदार्थ होता है। जब जीवन को मात्र भौतिक अस्तित्व ही मान लिया जाता है तो पदार्थ से ऊपर उठ कर कैसे देखा जा सकता है ? अस्तित्व में जब अध्यात्म होगा तब ही पदार्थ से ऊपर उठ कर देखने की दृष्टि प्राप्त होगी।

भोग और त्याग

भोग और त्याग—ये दो विपरीत ध्रुव हैं। अपनी अतियों में दोनों ही समाज के संघटक नहीं हैं। इसीलिए हमारे यहां सामान्यत: सब चीजों की, और विशेषत: भोग व त्याग की अति के लिए वर्जना है—**अति सर्वत्र वर्जयेत्**। हमने अभोग व अतिभोग को ठीक न मान कर उनके मध्य की अवस्था को नाम दिया 'समभोग'। अतित्याग भी ठीक नहीं—**अतिदानाद् बलिर्बद्धः**। अतित्याग के कारण ही बलि फंस गया था। इस प्रकार अति दोनों की ही श्रेयस्कर नहीं है । समाज में रहने वाला

व्यक्ति न केवल भोग में जी सकता है और न केवल त्याग में। भोग में जीने वाला व्यक्ति स्वार्थ में जीता है। त्याग में जीने वाला परमार्थ में जीता है। समाज में रहने वाले व्यक्ति के लिए 'परस्परार्थ' में जीना आवश्यक होता है। यह 'परस्परार्थ' मध्यममार्ग है। नीतिशतक के रचयिता भर्तृहरि का यह वाक्य परस्परार्थ का ही प्रतिपादन कर रहा है—**स्वार्थान्, सम्पादयन्तो विततपृथुतरारम्भ-यत्नाः परार्थे**—स्वार्थ का संपादन करते हुए भी परार्थ में भरसक यत्न करना—यही परस्परार्थ है। यह 'एक दूजे के लिए' वाली स्थिति है। इसी दृष्टि से जैनमत में एक सूत्र दिया गया—**परस्परोपग्रहो जीवानाम्**। यह वैयक्तिक या सामाजिक जीवन का उपकारक सूत्र ही नहीं है, प्रत्युत पूरी दुनिया के अस्तित्व का संदर्शक सूत्र है।

कुछ लोग मानते हैं कि हिंसा ही अस्तित्व का संरक्षक सूत्र है। उनके मत में 'मत्स्य-न्याय' ही जगत् का परम सत्य है—**जीवो जीवस्य भोजनम्**—छोटा जीव बड़े जीव का आहार बनता है, यही प्राकृतिक व्यवस्था है। आपाततः (मोटे तौर पर) इस वास्तविकता से इनकार नहीं किया जा सकता, परंतु जब समाज-व्यवस्था का प्रश्न उपस्थित हुआ, तब यह समझा गया कि हिंसा जीवन के लिए आवश्यक हो सकती है, पर प्रेरणा नहीं। यहीं से हिंदू शास्त्रों में **अहिंसा परमोधर्मः** की धारणा दृढ़ हुई, जो आगे चल कर जैन संप्रदाय में आचार के प्रमुख विधायक सूत्र के रूप में पल्लवित हुई। यहीं से मनुष्य के बुद्धि-कौशल का अध्याय प्रारंभ हुआ। आदिकाल का मनुष्य प्रकृति में जीता था। प्रकृति से जो-कुछ सहज रूप से मिल जाता, वही उसके जीवन का आधार बनता था। प्रकृति असीम थी, मनुष्य अल्प थे। अतः जीवन में वैसा संघर्ष नहीं था। यद्यपि मनुष्य को अपने से शक्तिशाली प्राणियों से संघर्ष करना पड़ता था, अपनी सुरक्षा करनी पड़ती थी, किंतु फिर भी मनुष्य में परिग्रह नहीं था, उसकी आकांक्षाएं प्रबल नहीं थीं। जैसे-जैसे जनसंख्या में वृद्धि हुई तो मनुष्य की चिंतन क्षमता में भी शनैः-शनैः वृद्धि हुई। आकांक्षाओं में वृद्धि हुई, तो संग्रह-परिग्रह की बात भी सामने आई। प्रकृति तो जितनी थी, उतनी ही थी—उतनी ही रहेगी। पर, जब आकांक्षाएं बढ़ने लगती हैं, तब बात चिंतनीय हो जाती है। मनुष्य की आकांक्षाओं अथवा आवश्यकताओं को रेखांकित करते हुए बहुत सुंदर कहा गया है—

तन की तृष्णा अल्प है, आध पाव के सेर।
मन की तृष्णा अमिट है, मिले मेर का मेर।।

तन (शरीर) के लिए भोजन आवश्यक है, पर वह ज्यादा से ज्यादा आधा या सेर (किलो) आवश्यक हो सकता है, लेकिन जब आकांक्षाएं बढ़ती हैं तब आवश्यकता (तृष्णा) केवल तन की ही नहीं रह जाती, अपितु वह मन की भी हो जाती है, और मन की तृष्णा तो इतनी अमाप्य होती है कि वह मेरु पर्वत (स्वर्णगिरि) जितने पदार्थों से भी शांत नहीं हो सकती है। उसमें सुविधा, वासना, विलासिता तथा प्रतिष्ठा के अध्याय भी स्वतः जुड़ जाते हैं। फिर यह धरित्री भी भोग्या प्रतीत होती है।

जब मनुष्य के सारे व्यापार, सारी चेष्टाएं केवल धन की प्राप्ति के लिए ही होती हैं, तब उसका अधःपतन किस प्रकार होता है—इसे भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय में विशद रूप से समझाया गया है। कहा है—मनुष्य जब धन को (मूल में 'विषय' शब्द है, पर मनुष्य धनार्जन इसीलिए करता है कि उससे भोग मिलते हैं।) जीवन का सर्वस्व बनाता है, तब उसका चित्त हर समय धन का ही ध्यान करता है और चिंतन करते-करते उसमें आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से उसको प्राप्त करने की प्रबल कामना जाग्रत हो उठती है, कामना में प्रतिरोध होने से अर्थात् इष्ट वस्तु की प्राप्ति में विघ्न आने पर क्रोधाग्नि भभक उठती है, क्रोध से विवेक का नाश होने पर कर्तव्याकर्तव्य का भान नहीं रहता। ऐसा होने पर सारासार, धर्माधर्म, नीति-अनीति के विचार ही मन में नहीं आते। परिणामतः मनुष्य का मनुष्यत्व मिट जाता है, उसका सर्वनाश हो जाता है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते,
संगात् संजायते कामः, कामात् क्रोधाऽभिजायते।
क्रोधाद् भवति सम्मोहः, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः,
स्मृति-भ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणस्यति।।

समस्त पाप इस विषय-लालसा से ही होते हैं। यह विषयों की लालसा और विषयों की प्राप्ति के लिए धन की लालसा बढ़ती है, जो धन इकट्ठा करने से भी मिटती नहीं है। धन का ढेर ज्यों-ज्यों लगता जाता है, त्यों-त्यों तृष्णा भी अधिकाधिक बढ़ती जाती है। धन से या विषय भोग से किसी का मन भरा हो, ऐसा भूतकाल में भी

कभी नहीं सुना गया। फिर आज के भोगपरायण काल में तो ऐसा होगा ही कैसे ? सभी शास्त्र यही चेतावनी दे रहे हैं। भगवद्गीता में कहा है—

न हि कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्म एव भूय एवाभिवर्धते।।

रामचरितमानस का भी यही संदेश है—

बुझै न काम अगनि तुलसी कहुं,
विषय-भोग बहु घी ते।

इसीलिए भर्तृहरि भी कहते हैं कि भोगों को हम न भोग सके, भोगों ने ही हमको भोग लिया और हमारी तृष्णाएं बूढ़ी नहीं हुईं, हम ही बूढ़े हो गए—

भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।
तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः।।

जिन्होंने समय रहते भोग के यथार्थ को जान लिया, उनका मन त्याग की ओर प्रवृत्त हो जाता है। शास्त्रकार कहते हैं कि धन की तीन गतियां होती हैं—**उत्तम गति है**—धन का परोपकार, दानपुण्य आदि में उपयोग; **मध्यम गति है**—स्वयं के लिए उपयोग करना और अपने धन का उक्त दोनों प्रकारों से जो उपयोग नहीं करता, उसके धन की **तीसरी गति होती है**—बतलाया गया है कि किसी न किसी मार्ग से उसका नाश निश्चित है—

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य, ।
यो न ददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति।।

इस धरती पर कितने राजा-महाराजाओं ने शोहरत कमाई, महल-चौबारे बनवाए और इस दुनिया से जो-कुछ तथा जितना ले सकते थे, लिया। लिया ही लिया, दिया कुछ भी नहीं। केवल अपने लिए जीने वाले, दूसरों के हिस्से की रोटी छीन कर खाने वाले उन शहंशाहों का आज कोई नाम भी नहीं लेता—

वो जमी पे जिनका था दबदबा,
कि बुलंद अर्श पे नाम था।
उनको यों फलक ने मिटा दिया,
कि मजार तक का निशां नहीं।।

(चकबस्त)

लेकिन, दूसरी ओर—'मैं राज्य, स्वर्ग और पुनर्जन्म नहीं चाहता, बस दुखसंतप्त प्राणियों की पीड़ा का शमन चाहता हूं'—ऐसा जीवनदर्शन रखने वाले और 'अपने हिस्से की रोटी' भी दूसरों को खिला देने वाले राजा रंतिदेव जैसों का नाम युगों के बाद भी आदर से लिया जाता है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामर्तिनाशनम्।।

(राजा रंतिदेव)

पदार्थों का अकेले-अकेले भोग करने वालों को हमारी सनातन परंपरा ने कभी भी श्रेष्ठ नहीं माना। उपनिषद् कहता है—त्याग करते हुए भोग करो—**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**। भगवद्गीता कहती है—अकेले खाने वाला पाप का भागी होता है—**केवलाघो भवति केवलादी।**

इसलिए हमारे यहां इंसानों के लिए ही नहीं पशुपक्षियों तक के लिए दानपुण्य की परंपरा रही है। उसमें भी दरिद्र द्वारा किए गए दान का अधिक महत्त्व रहा है—**दरिद्रश्च प्रदानवान्।** उसमें भी ढोल बजा कर नहीं, बल्कि गुप्तदान का ही अधिक माहात्म्य रहा है—**प्रदानं प्रच्छन्नम्।** और उसमें भी अभिमान रहित होकर विनम्रता के साथ किए गए दान को श्रेष्ठ माना गया है। 'विनय के साथ दान' के संबंध में यहां एक प्रसंग स्मरणीय है—कविवर रहीम अपने कवित्व के साथ ही अपनी दानशीलता के लिए भी प्रसिद्ध थे। एक दिन की घटना है, दान प्रदाता रहीम प्रतिदिन की भांति याचकों को दान कर रहे थे। एक-एक करके याचक आते थे और रहीम उनको विपुल द्रव्यादि देते जा रहे थे, किंतु जैसे ही दान के लिए उनके हाथ ऊपर उठते, वैसे ही उनकी नजर झुक जाती थी। समीप से गुजर रहे प्रसिद्ध कवि गंग ने इस दृश्य को देखा, तो उन्होंने रहीम से प्रश्न किया—

ऐसी कहां नवाबजू सीखे देनी देन।
ज्यों-ज्यों कर ऊंचो उठै त्यों-त्यों नीचे नैन।।

रहीम ने इस प्रश्न का उत्तर भी कविता में इस प्रकार दिया—

देनहार कोई और है जो देता दिन रैन।
लोग भरम मेरा धरैं ताविध नीचे नैन।।

यह है दानशीलता का आदर्श। अन्यथा अधिकतर तो यही होता है कि हम 'पांच-पचीस' भी किसी को देते हैं, तो पहले चार बार आस-पास देखते हैं कि हमें कितने लोग देख रहे हैं, फिर हम गर्व से सिर ऊंचा करके उस दान का स्वयं ही बखान भी करने लगते हैं।

हमारी संस्कृति त्याग की संस्कृति है। भोग के साथ

त्याग की संस्कृति। सब वेद-पुराण, ऋषि-मुनि, संत-महात्मा, कवि-कोविद त्याग का ही संदेश देते हैं। अठारह पुराणों में व्यासजी ने दो ही बातें बताई हैं कि परोपकार करने से पुण्य मिलता है और परपीड़ा से पाप मिलता है—

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।।

गोस्वामी तुलसीदासजी भी मानस में यही कहते हैं—**परहित सरिस धरम नहिं भाई, परपीड़ा सम नहिं अधमाई।** भर्तृहरि भी बताते हैं कि श्लाघनीय दान ही हाथ का आभूषण है—**करे श्लाघ्यस्त्यागः।** कंकण धारण करने से हाथ की शोभा नहीं हुआ करती—**दानेन पाणिर्नतु कंकणेन।** संत कबीर को देख लीजिए, वे कहते हैं—

चिड़ी चोंच भर ले गई नदी न घटियो नीर।
दान दिये धन ना घटे कह गये दास कबीर।।

और यदि कोई कहे कि नहीं जी ! दान करने से धन घटता कैसे नहीं ? घटता ही है, कमी या क्षीणता तो आती ही है, तो ऐसा प्रश्न करने वाले 'अक्ल के कोल्हू' को समझाते हुए भर्तृहरि कह रहे हैं कि याचकों में बांटते रहने से जो धन की दृष्टि से क्षीण हो गए हैं, उनकी वह क्षीणता वंदनीय है। उनकी वह क्षीणता या तनिमा ही वस्तुतः उनकी महिमा है—**तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नराः।**

मनुष्य ने जब समाज के रूप में रहना स्वीकार किया, तब देहासक्ति के रूप में राज्यवाद व साम्राज्यवाद भी सामने आया। राजाओं ने अपनी आकांक्षाओं का कम विस्तार नहीं किया। भर्तृहरि ने तो लिखा है—**विद्या राजसु पूज्यते नहि धनम्**—अर्थात् राजाओं के यहां धन की नहीं, विद्या की पूजा होती है—वह भोज सरीखे राजाओं के लिए ही लिखा होगा। अन्यथा तो राजाओं ने प्रायः धन की ही पूजा की है। उनकी राज्य-पिपासा, धन-लिप्सा ने लाखों-करोड़ों-अरबों लोगों की बलि ग्रहण की। मनुष्य के अहंकार ने राज्य-भक्ति के खिताब के रूप में खूब खैरात भी बांटी। पर, जनसामान्य का शोषण भी कम नहीं किया गया। और, इस सबका कारण मात्र तृष्णा ही था, अपार-अनंत-असीमित तृष्णा। भगवान महावीर ने कहा—**इच्छा हु आगास समा अणंतया**—इच्छाएं आकाश के समान अनंत हैं। उन्हें कैसे कभी पूरा किया जा सकता है? महात्मा गांधी ने ठीक ही कहा है—**धरती पेट तो सबका भर सकती है, पर मन एक का भी नहीं भर सकती।** इसीलिए नीतिकारों ने तृष्णा को काटने की बात कही है—**तृष्णा छिंधि।** अपनी और अपने परिवार की सुरक्षा समझ में आ सकती है, पर जब वह समस्त से कट कर अपने में सीमित हो जाती है, तो समस्या बन जाती है। परमार्थ में जीने वाले व्यक्ति के सामने परिवार नहीं होता। वह स्वयं ही इतना विस्तृत हो जाता है कि समस्त विश्व उसमें समाहित हो जाता है। वह समस्त को प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता, अपितु स्वयं ही समस्त में विलीन हो जाता है। वह किसी के लिए समस्या नहीं बनता, अपितु समाधान बन जाता है। जो व्यक्ति आकांक्षाओं में जीता है, वह इतना स्वकेंद्रित हो जाता है कि उसे किसी दूसरे की परवाह नहीं रहती। उसके लिए परिवार भी कैद बन जाता है। परिवार 'परस्परार्थ' की ओर उठने वाला पहला कदम है। पर, वह भी तब समस्या बन जाता है, जब समस्त की ओर से कट जाता है।

तो इस प्रकार अपना व अपने परिवार का-निर्वाह करते हुए दूसरों की खुल कर सहायता करना, जीवन-निर्वाह के साधन स्वरूप धन का भोग करते हुए त्याग करना ही जीवन का एक लाभ है। एक बहुत ही सुंदर नीति श्लोक है—

भिक्षुका नैव भिक्षन्ति बोधयन्ति गृहे-गृहे।
दीयतां दीयतां लोकाः अदातुः फलमीदृशम्।।

भावार्थ यह कि 'भीख मांगने वाले भीख नहीं मांगते, वे तो घर-घर यह शिक्षा देते फिरते हैं कि भाई! दान करो, दान करो। पिछले जन्म में दान न करने से ही हमारी यह दुर्गति हो रही है। इस जन्म में तुम दान न करोगे, तो वही स्थिति तुम्हारी भी हो सकती है। इस चातुर्मास में नहीं बोओगे तो वर्षभर क्या खाओगे? हमारे प्रत्यक्ष उदाहरण से शिक्षा-ग्रहण करो।'—इसी कारण से यह कहा गया है कि **जितनी पकड़ उतना दुख, जितना त्याग उतना सुख।**

अपरिग्रह और अर्थशास्त्र

अपरिग्रही जैन संतों के विचार हैं कि अपरिग्रह का कोई अर्थशास्त्र नहीं होता, क्योंकि वह तो त्याग है। अर्थशास्त्र का तो तात्पर्य ही भोग से है। इसलिए 'अपरिग्रह' अर्थशास्त्र का विषय नहीं बन सकता। किंतु, अर्थशास्त्र यदि निरंकुश हो जाए तो उसका परिणाम भी

विषमता ही होगा। विषमता से हिंसा जन्म लेगी। भले ही लोगों ने परस्परार्थ की समझ के कारण ही साम्राज्यवाद के स्थान पर लोकतंत्र को स्थापित किया है, पर केंद्र में से स्वार्थ नहीं निकल पाया है, अत: लोकतंत्र का अर्थशास्त्र भी शांति का अर्थशास्त्र नहीं बन पाया है।

अर्थशास्त्र की दृष्टि केवल मनुष्य को सुखी बनाने की है, जबकि अपरिग्रह की दृष्टि मनुष्य को शांत बनाने की है। यद्यपि सुख और शांति में कोई अंतर्विरोध नहीं है। ऐसा नहीं है कि सुख और शांति का सहावस्थान नहीं हो सकता, तथापि अपनी मूलप्रकृति में सुख पदार्थाश्रित है तथा शांति आत्माश्रित। जब लक्ष्य में सुख रहता है तो सारी शक्ति पदार्थ के संग्रह-उपभोग में ही खप जाती है। यहीं दूसरी बात यह है कि सुख के प्राप्त हो जाने के पश्चात् भी शांति मिले या न मिले, पर शांति के प्राप्त हो जाने पर सुख न भी मिले तो चल सकता है। सुख तो शरीर और इंद्रियों की अनुभूति है, जबकि शांति मन और आत्मा की अनुभूति है। आत्मानुभूति को हर मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए सामान्य मानव को पदार्थ और आत्मा के मध्य संतुलन बिठाना पड़ता है। अपरिग्रह उस संतुलन का ही एक संकेतसूत्र है।

अपरिग्रह सिद्धांत के अनेक व्याख्याकार हुए हैं। भगवान महावीर उनमें अग्रगण्य आत्मपुरुष हैं। उनके लिए घर, परिवार, समाज, राष्ट्र आदि सब संज्ञाएं चुक गई थीं। इसलिए वे अर्थशास्त्र के प्रवक्ता नहीं थे। जब परिग्रह स्वीकृत ही नहीं है, तो उसकी व्याख्या कैसी? पर, महावीर जानते थे कि सब व्यक्ति उस सीमा तक नहीं पहुंच सकते। अपरिग्रह के अंतिम छोर तक तो कोई-कोई व्यक्ति ही पहुंच सकता है। ऐसे संतजन कितने हैं—**सन्ति सन्त: कियन्त:?** ऐसे महापुरुषों से तो यह धरा कहीं-कहीं पर ही शोभा पाती है—**क्वचित् क्वचित् मण्डिता वसुधा।** पर, महावीर यह भी जानते थे कि परिग्रह ही सर्वस्व हो गया तो शेष कुछ भी नहीं रहेगा। अत: उन्होंने परिग्रह पर लगाम लगाने के लिए 'इच्छापरिमाण' का सूत्र दिया। इच्छापरिमाण में परिग्रह का पूर्ण निषेध नहीं है, अपितु उसकी अल्पता की ओर संकेत है। इस दृष्टि से अपरिग्रह के दो अर्थ हो जाते हैं—एक : परिग्रह का सर्वथा अभाव तथा दूसरा : परिग्रह की अल्पता या उसका सीमाकरण। 'परिग्रह की अल्पता' को ही हम **अपरिग्रह का अर्थशास्त्र** कह सकते हैं।

जैन तेरापंथ के आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का कथन है—'आधुनिक अर्थशास्त्र भौतिकवाद के आधार पर खड़ा हुआ है। उसकी कठिनाई यह एकांगी दृष्टिकोण ही है। यदि एकांगी दृष्टिकोण नहीं होता तो वर्तमान में इस प्रकार की आर्थिक अपराध की स्थिति नहीं बनती, आर्थिक स्पर्धा नहीं होती, उत्पादन और वितरण में इतनी विषमता उत्पन्न नहीं होती।' आधुनिक अर्थशास्त्र के प्रमुख पुरुष 'केनिज' कहते हैं—'हमें अपने लक्ष्य को प्राप्त करना है, सबको धनी बनाना है। इस मार्ग में नैतिक विचारों का हमारे लिए कोई मूल्य नहीं है।' उनका बहुत स्पष्ट कथन है—'नैतिकता का विचार न केवल अप्रासंगिक है, बल्कि हमारे मार्ग में बाधक है।'

आधुनिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य शांति नहीं है और अहिंसा भी नहीं है। उसका उद्देश्य है आर्थिक समृद्धि। प्रत्येक मनुष्य धनवान बने, कोई गरीब न रहे। केवल धन (अर्थ) मिल जाए और मिलता रहे—**अर्थोऽस्तु न: केवलम्।** मनुष्य की प्राथमिक आवश्यकताएं पूरी हों, इतना ही नहीं, अपितु वह साधनसंपन्न भी बने। आर्थिक समृद्धि के लिए साधन के रूप में लोभ, इच्छा, आवश्यकता और उत्पादन बढ़े—यही बात स्वीकृत है।

आज का अर्थशास्त्र यह भी कहता है—'इच्छा को बढ़ाओ।' इन भौतिकवादियों का कथन है—'Do not curtail your wants, but try to attain them'—'तुम अपनी आवश्यकताओं को घटाओ मत, पर उन्हें प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करो।'—इच्छा, आवश्यकता बढ़ेगी तो उत्पादन बढ़ेगा ही। इसी से उद्योगवाद को बढ़ावा मिलेगा। मनुष्य ने विज्ञान का विस्तार किया, कल-कारखाने भी बढ़े, पर उनका 'रुख-मुख' समस्त की ओर नहीं हुआ। यह नहीं कहा जा सकता कि विज्ञान की उपलब्धियों का सार्वजनिक उपयोग नहीं हुआ। पर, यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसका दुरुपयोग नहीं हुआ। मनुष्य ने विज्ञान को अपने स्वार्थ का केंद्र बना कर बड़े-बड़े उद्योग-धंधे विकसित किए। बल्कि उद्योग-धंधों में भी वे ही उद्योग-धंधे ज्यादा सुविधाएं एकत्र कर रहे हैं, जो शस्त्रास्त्रों का उत्पादन कर रहे हैं। हथियारों के उत्पादन से धन कुछ देशों या व्यक्तियों में ही केंद्रित हो गया। एक ऐसा अर्थशास्त्र पैदा हो गया, जो पूंजी के केंद्रीकरण की दलाली करने लगा। यह 'स्वार्थवाद' का ही चरमोत्कर्ष है। यदि 'परस्परार्थ' इसके केंद्र में होता तो कुछ जगह

अर्थ के अंबार नहीं लगते और कुछ जगह लोगों को खाने के लिए या प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही तरसना नहीं पड़ता। अर्थशास्त्र के फलितार्थ में यदि प्रति व्यक्ति आय समान होती तो समस्या का समाधान होता। साम्यवाद ने ऐसा ही प्रयोग किया, किंतु वैसा नहीं हो सका। जो लोग शीर्षस्थ धनी हैं, वे भी शांतिपूर्ण जीवन जी रहे हैं—ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनके कारण से बहुत लोग गरीब हैं, यह तो स्पष्ट है।

अपरिग्रह और पर्यावरण

आज प्रौद्योगिकी का बहुत विकास हुआ है, इसमें कोई संदेह नहीं है, किंतु इसके साथ यदि करुणा रहती तो शायद मनुष्यजाति के लिए इतना खतरा पैदा नहीं होता। 'टेक्नोलॉजी' का प्रयोग जिस सूक्ष्मता के साथ संहार की दिशा में हुआ है, उतना लाभ की दिशा में नहीं हुआ। इसका कारण यही है कि मनुष्य में साम्राज्यवाद की, अधिनायकवाद की प्रवृत्ति अभी भी पैठी हुई है, बेशक लोकतंत्र के प्रतिष्ठित होने से उसका स्वरूप कुछ परिवर्तित हो गया हो। एक समय था, जब जमीन का साम्राज्यवाद चलता था। भूमि पर अधिकार करो, अधिकाधिक जमीन हड़पो—यह एक प्रकार का भौगोलिक साम्राज्यवाद था। आज महत्त्व इस बात का नहीं है कि हमारे पास भूमि कितनी है, महत्त्व इस बात का है कि हमारे हाथ में 'बाजार' कितना है। क्योंकि आज अर्थशास्त्र के केंद्र में अर्थ है, इसी से सब समस्याएं पैदा हुई हैं।

अपरिग्रह के अर्थशास्त्र के केंद्र में 'अर्थ' नहीं होता, बल्कि प्राणी होता है। मनुष्य भी एक प्राणी है, पर प्राणी केवल मनुष्य ही नहीं है। मनुष्य के अतिरिक्त भी बहुत सारे प्राणी हैं। 'परस्परार्थ' की दृष्टि से उनका भी मूल्य है। आज उद्योगवाद के विस्तार के साथ प्रदूषण की समस्या भयंकर बनती जा रही है। उद्योग-धंधों ने न केवल वनों व धरती का ही दोहन किया है, अपितु जल, जंगल और वायु आदि के विनाश के रूप में पूरे पर्यावरण को ही दूषित कर दिया है। वनस्पति, पृथ्वी, जल, वायु आदि में भी जीवन है। आज जिस प्रकार इनका विनाश हो रहा है, वह स्वयं मानव के लिए एक चुनौती है। यदि पर्यावरण का संतुलन बिगड़ता गया तो पूरी धरती का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। जब पर्यावरण ही विनष्ट हो गया, तो मनुष्य कहां बचेगा? अत: पर्यावरण की सुरक्षा केवल परमार्थ की, अर्थात् प्राणीमात्र के हित की ही बात नहीं है, अपितु मनुष्य के अपने हित की बात भी है। यही 'परस्परार्थ' की बात है। यदि पर्यावरण की रक्षा करनी है, मानवता की रक्षा करनी है तो इस 'परस्परार्थ' की बात को समझना ही होगा। आज विकसित देशों को भी यह बात समझ में आने लगी है। 'प्रकृति का पोषण एवं दोहन हो, शोषण नहीं'—की बात की जाने लगी है। 'पृथ्वी सम्मेलन' होने लगे हैं—**माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**—(अथर्ववेद) के आदर्श की याद आने लगी है। दूसरों के लिए उपदेश के रूप में ही सही, पर अपरिग्रह की चर्चा होने लगी है। वास्तव में यदि पर्यावरण के विनाश को रोकना है तो अपरिग्रह के अतिरिक्त कोई और मार्ग है भी नहीं—**नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय।**

अपरिग्रह और भ्रष्टाचार

आज भ्रष्टाचार का प्रश्न ज्वलंत है—**आचारः परमो धर्मः** का सिद्धांत कहीं तिरोहित हो गया है और **भ्रष्टाचारः परमो धर्मः** जीवन में व्याप्त हो गया है। हिंदी के लेखक शरद जोशी के शब्दों में कहें तो—'बड़े-बड़े लोगों के हाथों में भाग्यरेखा के समानांतर **भ्रष्टाचार** रेखा विकसित हो गई है।' दुष्यंत कुमार के अल्फाज में कहें तो—

इस सड़क पर इस कदर कीचड़ बिछा है।
हर किसी का पांव घुटनों तक सना है।।

चाणक्य (अर्थशास्त्र) के शब्दों में कहें तो—'ये राजपुरुष इतनी कुशलता से जनता के धन का हरण कर लेते हैं, जैसे जल में रहने वाली मछली जल पी जाती है और किसी को पता भी नहीं लगता।'

पर, यह तो होना ही था। जब अर्थशास्त्र की मूल धारणा यह है कि—'नैतिकता का विचार हमारे मार्ग में बाधक है'—तो फिर भ्रष्टाचार का रोना क्यों ? इसमें आश्चर्य किस बात का? वर्तमान की **यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।** की अर्थशास्त्रीय अवधारणा के बीच यदि भ्रष्टाचार बढ़ता है, आर्थिक अपराध बढ़ते हैं, अप्रामाणिकता और बेईमानी बढ़ती है तो यह सब स्वाभाविक लगते हैं। ये न बढ़ें, तो आश्चर्य की बात है।

यद्यपि डॉ. मार्शल आदि कुछ उत्तरवर्ती अर्थशास्त्रियों ने स्वीकार किया है कि परिणामत: नैतिकता आनी चाहिए, किंतु वह अनिवार्य नहीं है। केनिज ने कहा—'जब हम आर्थिक दृष्टि से संपन्न हो जाएंगे, तब

नैतिकता पर विचार करने का अवसर आएगा, अभी उसके लिए उचित समय नहीं है। अभी तो जो गलत है, वह भी हमारे लिए उपयोगी है। अर्थशास्त्र उपयोगिता के आधार पर चलता है, इसलिए उसमें गलत कुछ भी नहीं है। जो उपयोगी है, वही सही है, वही हमारे लिए वांछनीय है।' ऐसी स्थिति में अपरिग्रह का विचार ही मनुष्य का मार्गदर्शन कर सकता है। वास्तव में गरीबी और अमीरी धन में नहीं, अपितु मनोभाव में होती है। गरीबी दुखद तो है, पर जब अपरिग्रह की मनोदशा जाग्रत हो जाती है, तो वह भी सुखद बन जाती है। इसके विपरीत ऐसे अमीरों की कमी नहीं जो अपने धन के कारण ही दुखी रहते हैं। क्योंकि नीति का कहना है कि हराम की कमाई ज्यादा दिन नहीं टिकती। अधर्म से प्राप्त किया हुआ धन कुछ दिन रह कर फिर न्यायोपार्जित धन को भी साथ लेकर नष्ट हो जाता है—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं तद्विनश्यति।।

परिवार में एक व्यक्ति भ्रष्ट कर्मों से धनार्जन करता है और उस धन से कई लोग मजे लूटते हैं, किंतु जब अपराध के लिए दंड का निर्धारण होता है, तो बाकी सब लोग तो छूट जाते हैं और केवल कर्ता ही दोष का, दंड का भागी बनता है—

भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते, कर्ता दोषेण लिप्यते।
(विदुरनीति)

किंतु फिर भी मनुष्य पापकर्म करता है और दोष निवारण की इच्छा से, उस पापकर्म के धन से धर्म करने की कोशिश भी करता है, लेकिन अन्याय के वित्त से किया गया वह धर्म मात्र व्याज है, आडंबर है—

अन्यायवित्तेन कृतो हि धर्मः।
सव्याज इत्याहुरशेषलोकः।।

अपरिग्रह और अस्तेय

स्तेय का अर्थ है चोरी, अतः अस्तेय का अर्थ हुआ—'चोरी न करना।' किसी की अनुपस्थिति में या नजर चुरा कर उसकी वस्तु को ले लेने का नाम ही चोरी है—ऐसी बात नहीं है। दूसरे के जरा से हक को ले लेना भी चोरी है। यहां तक कि, दूसरे की वस्तु की तरफ ललचाई नजर से देखना भी चोरी है। इसीलिए ईशावास्योपनिषद् के पहले ही मंत्र में कहा है—'ललचाओ मत, धन किसका है ? अर्थात् किसी का नहीं है'—**मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।**

व्यापारी उचित से अधिक मुनाफा ले, माप-तौल में गड़बड़ करे, क्रेता की आवश्यकता का नाजायज फायदा उठा कर अधिक पैसा वसूल करे, अच्छा नमूना दिखा कर गलत माल दे—ये सब चोरी है। काला-बाजारी, रिश्वतखोरी, धोखाधड़ी करने वाले, कामचोरी करने वाले—सब चोर ही हैं। इन सब दुष्कर्मों की जड़ परिग्रह (संग्रह-भावना) ही है। अतः हमें इस संग्रहखोरी से दूर रहना चाहिए और परस्त्री के साथ मातृत्व तथा पराये धन के प्रति लोष्ठवत (मिट्टी के ढेले के समान) व्यवहार करना चाहिए—**मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।** महात्मा मनु ने भी अस्तेय को धर्म के दस अंगों में से एक माना है। अस्तेय के बिना अपरिग्रह असंभव है।

अपरिग्रह और संतोष

संतोष भी अपरिग्रह के मार्ग का एक प्रमुख सोपान है। जिसकी आवश्यकता जितनी अल्प है, वह उतना ही सुखी है। अतः जो मनुष्य सुखी जीवन की कामना रखता हो, उसे शनैः-शनैः अपनी आवश्यकताएं कम करनी चाहिए और संतोष वृत्ति की शिक्षा लेनी चाहिए। **यद्दच्छालाभसन्तुष्टाः**—गीता के इस महावाक्य को जीवन में उतारना चाहिए। तुलसी के अनुसार—**यथालाभसंतोषसुख** की वृत्ति बनानी चाहिए। वास्तविक धन तो संतोष ही है। इसके सामने बाकी सब धन तुच्छ हैं—**जब आवै संतोष धन, सब धन धूरि समान।**

परितोष का महत्त्व बताते हुए नीति में कहा गया है कि दरिद्र तो वह होता है, जिसकी तृष्णा बड़ी होती है। मन के संतुष्ट हो जाने पर कौन धनवान और कौन दरिद्र—

स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला।
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः।।

भोगों के भोग में तो चित्त व्यग्र ही रहता है। पतंजलि योगदर्शन में कहा है कि यदि अनुत्तम (अप्रतिम) सुख पाना हो तो संतोष वृत्ति को धारण करना चाहिए—**संतोषदनुत्तमसुखलाभः।**

'स्टैंडर्ड ऑफ लिविंग' की धारणा

इस धारणा ने भी आदमी को बड़ा धोखे में रखा है। हर व्यक्ति की लालसा होती है कि जीवन स्तर ऊंचा

होना चाहिए। 'सादा जीवन उच्च विचार' का आदर्श उलट गया है। विकास (भौतिक उन्नति) को प्रतिष्ठा का मानदंड मान लिया गया है। यह भी मान लिया गया है कि इतनी बातें तो होनी ही चाहिए। सब गुण (कुलीनता-सुशीलता-पांडित्य आदि) कांचन (धन या स्वर्ण) के आश्रय में चले गए हैं—**सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति।** —यदि यह धारणा होती कि जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए, तो कोई समस्या नहीं थी। यह एक स्वस्थ चिंतन है। पशु-पक्षी भी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं, तो मनुष्य जैसा बुद्धिमान प्राणी क्यों नहीं करेगा! किंतु, 'स्टैंडर्ड ऑफ लिविंग' की धारणा ने प्राथमिक आवश्यकताओं को गौण कर दिया तथा अनावश्यक वस्तुओं के प्रति आकर्षण पैदा कर दिया। कुछ लोगों के स्वार्थ ने 'परस्परार्थ' की उपपत्ति का विनाश कर दिया। उपभोक्तावाद को जो हवा आज मिल रही है, उसके मूल में अधिक उत्पादन और फिर उसका आकर्षक विज्ञापन—ये ऐसी बातें हैं जो लोगों की 'महापरिग्रही मनोवृत्ति' को उभार रही हैं। किसी अंग्रेजी लेखक ने ठीक ही कहा है—**The tiger of worldly desires in human mind is more terrible in a living one. Unlimited desires leads one on the path of destruction.**

धन साधन है साध्य नहीं

भोगवाद की दृष्टि में धन साध्य है। अपरिग्रह की दृष्टि से धन साधन है। जब धन साध्य बन जाता है, तब साधन-शुद्धि पर बल नहीं रहता है। तब येन-केन-प्रकारेण धनार्जन ही लक्ष्य हो जाता है। इसी से अनेक समस्याएं जन्म लेती हैं।

धन के बिना जीवन-निर्वाह न पहले संभव था और न अब है, इसीलिए अर्थ को पुरुषार्थ बताया गया है। किंतु, उसकी प्राप्ति सन्मार्ग से होनी चाहिए। अधर्म से अर्जित धन चाहे कितना ही रम्य लगे, किंतु वह है विष से भरे हुए स्वर्ण के घड़े जैसा—**विषरस भरा कनक घटु जैसे।** धन को जब साध्य, जीवन का ध्येय मान लिया जाता है—तब सारा समय धन के चिंतन में ही जाता है और परिणाम में चित्त के ध्येयाकार बन जाने पर धन के सिवाय दूसरी कोई वस्तु अच्छी लगती ही नहीं—

जगल्लुब्धा धनमयं कामुकाः कामिनीमयम्।
नारायणमयं धीराः पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।

भाव यह है कि धन ही जिनका ध्येय है, वे लोभी जगत को धनसंग्रह के साधन के रूप में देखते हैं। कामुक पुरुष जगत को स्त्री प्राप्ति के साधन के रूप में तथा ज्ञानीपुरुष जगत को नारायण प्राप्ति के साधन के रूप में देंखता है।

जो धन अर्जन के समय दुख देता है, विपत्ति (युद्ध-क्रांति, बाढ़, अग्निप्रकोप आदि) के समय संतप्त करता है और समृद्धि के समय व्यक्ति को मूर्छित करता है, उसको सुखदायी और जीवन का साध्य कैसे माना जा सकता है? एक स्थान पर यही बात कही गई—

जनयन्त्यर्जने दुःखं तापयन्ति विपत्तिषु।
मोहयन्ति च सम्पत्तौ कथमर्थाः सुखावहाः।।

अतः धन का सेवन केवल जीवन-निर्वाह हेतु साधन के रूप में ही होना चाहिए। योगवासिष्ठ का यह श्लोक जीवन-निर्वाह का तरीका बता रहा है—

आहारार्थं कर्म कुर्यादनिन्द्यं
कुर्यादाहारं प्राणसन्धारणार्थम्।
प्राणाः सन्धार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं
तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम्।।

अर्थात् आहार (शरीर-निर्वाह) के लिए शुभ कर्म करने चाहिए। प्राणधारण (जीवनरक्षा) के लिए आहार करना चाहिए (जीने के लिए खाना, न कि खाने के लिए जीना), तत्त्वज्ञान के लिए जीवनरक्षा करनी चाहिए और **पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्** रूपी दुख न हो इसके लिए तत्त्वज्ञान करना चाहिए।

निष्कर्षतः अपरिग्रह की व्याख्या करते हुए जैन दर्शन में कहा गया है—**मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।** आसक्ति ही परिग्रह है। जब तक आसक्ति है, कितना ही अर्थ एकत्रित हो जाए, पर मानसिक गरीबी नहीं जाती। किंतु, अपरिग्रही मनोवृत्ति वाले व्यक्ति के पास कितना ही अभाव क्यों न हो, वह कभी दुखी नहीं होता। अपरिग्रही होने का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य के पास अर्थ-परार्थ नहीं हो। यदि ऐसा ही होता तो भिखारी सबसे बड़े अपरिग्रही होते। अपरिग्रह तो वस्तुतः एक मनोदशा है। यह मनोदशा जैसे-जैसे बढ़ेगी, वैसै-वैसे समस्याओं का समाधान होगा—व्यक्ति की, समाज की, राष्ट्र की, विश्व की समस्याओं का समाधान। तभी तो कहा है—

सांई इतना दीजिये जामें कुटुंब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूं अतिथि न भूखा जाय।। ❖

आभामंडल : एक विमर्श

आभामंडल हमारे स्वास्थ्य के लिए अद्भुत भूमिका अदा करता है। हमारे चारों तरफ प्रतिक्षण विभिन्न प्रकार के अणु चक्कर काट रहे हैं। अगर हमारा आभामंडल सशक्त-सुदृढ़ होता है, तो हमें दूषित नकारात्मक संक्रमणों से बचा लेता है। यह हमारे रक्षा-कवच का काम करता है। यह हमें स्वयं के प्रति जागरूक भी बनाता है। स्वयं के शोधन-परिष्कार के लिए उत्प्रेरित करता है। कोई हमारे से दुराव-बचाव करता है—वार्तालाप तो दूर, संपर्क से ही घबराता है—तो यह हमें सोचने को, आत्ममंथन करने को मजबूर करता है कि ऐसा हमारे दूषित व क्षीण आभामंडल के असर के ही कारण है, इसी का दोष है।

अतः हमें अपना आभामंडल शुद्ध, सबल और पवित्र बनाना चाहिए। अपने आंतरिक व्यक्तित्व को परिष्कृत करना चाहिए।

❑

मुनि मोहनलाल 'शार्दुल'

❑ ❑

संसार की प्रत्येक वस्तु का आभामंडल होता है। सजीव-निर्जीव—कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है कि जिसका आभामंडल नहीं हो। हर वस्तु का आभामंडल अलग-अलग होता है। आभामंडल वस्तु की सामर्थ्य-शक्ति के अनुरूप बनता है। किसी वस्तु का आभामंडल तेजस्वी व सबल होता है, तो किसी का फीका व कमजोर। जड़-निर्जीव पदार्थों का आभामंडल प्रायः फीका, छोटा और अल्प सत्त्व होता है। जड़ात्मक वस्तुओं का आभामंडल प्रायः परिवर्तनशून्य-स्थिर, निश्चित होता है। हर आभामंडल का अपना अलग-अलग प्रभाव होता है।

हम किसी अपरिचित क्षेत्र में अथवा किसी मंदिर के प्रांगण में प्रवेश करते हैं और शांति का अनुभव होता है, अनायास खुशी मिलती है। किसी दूसरे स्थल पर पहुंचते हैं तो भय का-सा आभास हो सकता है। किसी मणि को अंगूठी में पहनते हैं, आरोग्य मिलता है, मन प्रसन्न रहता है। किसी दूसरे नगीने को धारण करते हैं, बीमार रहने लगते हैं। मानसिक तनाव बढ़ जाता है। शक्ति का ह्रास होने लगता है। यह सब उनके आभामंडल का प्रभाव है।

मनुष्य के अतिरिक्त अन्य क्षुद्र प्राणियों का आभामंडल भी निस्तेज व क्षीण प्रभाव होता है। आभामंडल सजीव प्राणियों का या निर्जीव पदार्थों का—किसी का भी हमारे इन चर्म-चक्षुओं का विषय नहीं बनता, इन आंखों से दिखाई नहीं पड़ता। उसे अतिशय ज्ञानी, अतींद्रिय ज्ञानी ही देख सकते हैं, जान सकते हैं।

मनुष्यों के विभिन्न प्रकार के आभामंडल होते हैं। तेजस्वी, ओजस्वी, प्रभावशाली, शालीन, स्वच्छ, सबल-सक्षम और आकर्षक। तो साथ ही साथ निस्तेज, भद्दा, निर्बल तथा दूषित-मलिन भी होता है। यही कारण है कि किसी व्यक्ति के दर्शन मात्र से व्यक्ति प्रभावित व आकृष्ट हो जाता है, तो किसी व्यक्ति से बचाव करना चाहता है। अपरिचित होते हुए भी उसका संपर्क नहीं सुहाता है। दृष्टिगोचर कुछ नहीं होता, पर उसके

आभामंडल से विकिरण होने वाले अणुओं से व्यक्ति विमुख या प्रभावित हो जाता है। मनुष्य के प्रिय-अप्रिय होने का भी यह एक रहस्य है।

मनुष्य का आभामंडल परिवर्तनशील होता है। उसमें मनचाहा बदलाव लाया जा सकता है। उसके मनोनुकूल रूपांतरण की चाबी मनुष्य के हाथ में है। मनुष्य के आभामंडल में मलिनता-निर्मलता, क्षीणता-सघनता, तेजस्विता-हीनता और संकोच-विस्तार सब होते रहते हैं। स्वस्थता की दशा में और रुग्णावस्था में भिन्न-भिन्न प्रकार का आभामंडल होता है। जो भावधारा के अनुरूप बदलता रहता है।

क्या है आभामंडल

आभामंडल पदार्थ की शक्ति-संपन्नता अथवा शक्तिहीनता का प्रतीक, पदार्थ के चारों ओर अणुओं का सुगठित अदृश्य घेरा है। यह प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न होता है। स्वाभाविक ही यह पौद्गलिक संस्थान बन जाता है। मनुष्यों का आभामंडल अन्य पदार्थ व प्राणियों की अपेक्षा काफी सशक्त, सुस्पष्ट व विकसित होता है। यह हमारे सूक्ष्म-अंतःव्यक्तित्व का सूचक है, हमारी मनोवृत्तियों का प्रतिबिंब है। हमारे रुझान और हमारी आदतों का परिचायक है। हमारे बुरे-भले स्वभाव का चित्रांकन है।

हमारी भावधारा उच्चाभिलाषा, निराशा, प्रेम, द्वेष आदि वृत्तियों की प्रतिनिधि है। हमारी आध्यात्मिक शक्ति से प्राप्त ऊर्जा और जैविक विद्युत के द्वारा प्रसरण-विकिरण होता है और इसी से हमारे शरीर के चारों ओर रंगीन अणुसमूहों का एक वलय बनता है। इसी का नाम आभामंडल है। इसे शारीरिक कांति या शरीर-छटा भी कहते हैं। भावधारा का स्वरूप बदलते ही इसमें बदलाव आ जाता है।

आभामंडल हमारे स्वास्थ्य के लिए अद्भुत भूमिका अदा करता है। हमारे चारों तरफ प्रतिक्षण विभिन्न प्रकार के अणु चक्कर काट रहे हैं। अगर हमारा आभामंडल सशक्त-सुदृढ़ होता है, तो हमें दूषित नकारात्मक संक्रमणों से बचा लेता है। यह हमारे रक्षा-कवच का काम करता है। यह हमें स्वयं के प्रति जागरूक भी बनाता है। स्वयं के शोधन-परिष्कार के लिए उत्प्रेरित करता है। कोई हमारे से दुराव-बचाव करता है—वार्तालाप तो दूर, संपर्क से ही घबराता है—तो यह हमें सोचने को, आत्ममंथन करने को मजबूर करता है कि ऐसा हमारे दूषित व क्षीण आभामंडल के असर के ही कारण है, इसी का दोष है।

अतः हमें अपना आभामंडल शुद्ध, सबल और पवित्र बनाना चाहिए। अपने आंतरिक व्यक्तित्व को परिष्कृत करना चाहिए।

आभामंडल से मिलती है जानकारी

आभामंडल को समझने से हमें विभिन्न प्रकार की जानकारियां मिल सकती हैं। हम अपने ही स्वास्थ्य के विषय में जान सकते हैं कि हमारा स्वास्थ्य कैसा है? सुदृढ़ या शिथिल, रुग्ण व कमजोर व्यक्ति का आभामंडल दुर्बल होता है। नवीन शोधों के आधार पर भविष्य में शरीर पर उतरने वाली बीमारी का आभास हो सकता है और उससे बचने के उपाय भी किए जा सकते हैं। कैंसर जैसे भयंकर रोग का पहले ही पता लग सकता है। चिकित्सकों ने प्रचुर प्रयोग कर इसे साबित किया है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति की आंतरिक भावनाओं की भी पर्याप्त अवगति हो सकती है। आभामंडल के विज्ञान द्वारा व्यक्ति के नकारात्मक-सकारात्मक व्यक्तित्व को भी जाना जा सकता है।

आभामंडल हमारी अत्यंत सूक्ष्म चेतना का ज्ञापक है। कभी-कभी व्यक्ति पूरा मूर्च्छित-बेहोश हो जाता है। डाक्टर उसे मृत घोषित कर देते हैं, किंतु आभामंडल विशेषज्ञों का अभिमत है कि जब तक आभामंडल विद्यमान रहता है—मृत्यु नहीं होती है। श्मशान गया हुआ भी लौट आता है। कभी-कभी ऐसी घटनाएं घटती भी हैं। आभामंडल की समस्त जानकारी 'फोटो' और कुछ प्रयोगों के माध्यम से होती है। विश्व के अनेक देश इस विषय में अनुसंधान कर रहे हैं। बड़े-बड़े संस्थान पूरे वैज्ञानिक उपकरणों के साथ इसमें जुटे हुए हैं।

सोवियत संघ के किलियन दंपती सोमयोन तथा उनकी पत्नी वेलेंटिना ने इस संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। 'किलियन फोटोग्राफी' आभामंडल के 'फोटो' खींचने की पद्धति कहलाती है। सन् 1950 में उन्होंने पौधों और प्राणियों में होने वाली बीमारियों, जिनका कोई लक्षण वर्तमान में दिखाई नहीं देता था—आभामंडल के 'फोटो' से निदान कर बता दिया था। इसी तरह अमेरिकन महिला जे सी ट्रस्ट ने एक पुस्तक लिखी है—'एटम एंड ओरा' (अणु और आभामंडल)। इस पुस्तक में काल्पनिक तथ्यों का संकलन नहीं है।

आभामंडल के चित्र खींचे और छापे हैं और उनका निष्कर्ष प्रस्तुत किया है।

रंगों का प्रभाव

आभामंडल पौद्गलिक संरचना है। शरीर के चारों ओर रंगीले सूक्ष्म अणुओं का घेरा है। रंग व्यक्ति की चेतना को बहुत प्रभावित करते हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने खोज की है कि व्यक्ति के अवचेतन को और मस्तिष्क को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला है—रंग। रंग हमारे समग्र व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। आज अनेक अन्वेषणों और प्रयोगों से स्थापित किया जा चुका है कि विभिन्न रंगों का व्यक्ति के रक्तचाप, नाड़ी और श्वसन तंत्र की गति एवं मस्तिष्क के क्रियाकलापों तथा अन्य जैविकी क्रियाओं पर विभिन्न प्रकार का प्रभाव पड़ता है। इसी के परिणामस्वरूप वर्तमान में अनेक प्रकार की बीमारियों की चिकित्सा में विभिन्न रंगों को प्रयुक्त किया जाने लगा है।

व्यक्तित्व की पहचान

रंग-विज्ञानियों के अभिमत में व्यक्ति के रंग-रुझान और रंग-पसंदगी के आधार पर उसके आंतरिक व बाह्य व्यक्तित्व का समुचित आकलन किया जा सकता है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने अपने ग्रंथ 'जैन योग' में स्पष्ट किया है कि—'रंगों के आधार पर मनुष्य के मनोभावों को पहचाना जा सकता है। जिसे आसमानी रंग पसंद होता है—वह बोलने में दक्ष, सहृदय और गंभीर होता है। मनोविकार, उत्कंठा आदि वृत्तियों पर नियंत्रण पा लेता है। जिसे पीला रंग पसंद हो—वह विचारक और आदर्शवादी होता है। लाल रंग पसंद करने वाला व्यक्ति साहसी, आशावान, सहिष्णु और व्यवहार कुशल होता है। काले रंग को पसंद करने वाला—हीन भावना से घिरा होता है। श्वेत रंग को पसंद करने वाला व्यक्ति सात्त्विक वृत्ति और सात्त्विक भावना वाला होता है।'

रंगों के गुणों और प्रभावों का ये संकेत तो मात्र निदर्शन है। प्रत्येक रंग के अनेक पर्याय होते हैं और प्रत्येक पर्याय के गुण और प्रभाव भिन्न होते हैं। निर्मल भावना, ध्येय और उसके अनुरूप रंगों का चयन कर अनेक मानसिक समस्याओं को सुलझाया जा सकता है।

'अमेरिकन इंस्टीट्यूट ऑफ बायो-सोशल रिसर्च' के निदेशक प्रो. एलेग्जेंडर सोस की मान्यता है कि रंग की विद्युत चुंबकीय ऊर्जा किसी अज्ञात रूप में हमारी 'पिच्यूटरी' और 'पीनियल' ग्रंथियों एवं मस्तिष्क की गहराई में विद्यमान 'हायपोथेलेमस' को प्रभावित करती है।

'जर्मन अकादमी ऑफ कलर साइंस' के अध्यक्ष ने एक विद्यालय के बच्चों पर कुछ प्रयोग करने के पश्चात् रिपोर्ट दी, जो बायो-सोशल रिसर्च की पत्रिका में छपी है। रिपोर्ट में बताया गया है कि जब विद्यालय के कमरे की दीवारों के रंगों को नारंगी और सफेद से बदल कर 'रॉयल-ब्लू' और हलका 'ब्लू' कर दिया, सामान्य बत्तियों के स्थान पर इंद्रधनुषी बत्तियों को लगा दिया—तो बच्चों का ऊपर का रक्तचाप 120 से घट कर 100 तक आ गया। उनका व्यवहार पहले से अच्छा और अनुशासन-बद्ध हो गया तथा उनकी एकाग्रता बढ़ गई।

भारत में डा. नरेंद्रन आभामंडल के क्षेत्र में बहुत सक्रिय हैं। डा. नरेंद्रन व उनके सभी साथी डाक्टरों व तकनीशियनों ने मिल कर एक विशेष यंत्र का विकास किया है। विगत वर्षों में डा. नरेंद्रन के दल ने 132 बीमार व्यक्तियों का परीक्षण किया। जिनमें स्नायविक गड़बड़ी, उदर रोग, स्त्री रोग आदि की बीमारियां थीं। स्नायविक (नाड़ी तंत्रीय) गड़बड़ी के भिन्न-भिन्न प्रकार के मरीजों के आभामंडल निश्चित ढांचे के पाए गए। इन रोगों में मिरगी, सूत्रण रोग, मस्तिष्क की गांठ, चेहरे का पक्षाघात जैसी बीमारियां शामिल थीं। डा. नरेंद्रन के अनुसार आभामंडल एक प्रकार की तरंगों के रूप में होता है। किंतु, स्वस्थ और रुग्ण, मृत और जीवित, जीवंत और निर्जीव वस्तुओं के आभामंडल में निश्चित ही भिन्नताएं होती हैं।

आभामंडल के विभिन्न रंग

आभामंडल में विभिन्न रंग पाए जाते हैं। जैसे—लाल, हरा, पीला, जामुनी और नीला, सफेद, श्याम रंग आदि। डा. नरेंद्रन ने बताया कि सोवियत संघ में आभामंडल के ज्ञान का उपयोग कृषि कार्य में किया जा रहा है। दूसरी ओर अमेरिका में उसका उपयोग अतींद्रिय ज्ञान के अध्ययन में किया जा रहा है। उदाहरणार्थ वह क्या शक्ति है, जो कभी-कभी किसी व्यक्ति को उस 'ट्रेन' से यात्रा करने से रोक देती है, जो आगे चल कर दुर्घटनाग्रस्त हो जाती है? डा. नरेंद्रन के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के पास अंत:दर्शन की शक्ति

होती है। उसे विकसित किया जा सके, तो वह मनुष्य जाति के लिए अनेक प्रकार से बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है—जैसे दुर्घटना या दुर्घटना से होने वाली मृत्यु के विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है।

आभामंडल और लेश्या ध्यान

आभामंडल और लेश्या ध्यान का परस्पर गहरा संबंध है। हम लेश्या ध्यान के द्वारा आभामंडल को बदल सकते हैं। उसे स्वस्थ, सौम्य, शालीन, शक्तिशाली और तेजस्वी बना सकते हैं। लेश्या हमारी विशेष प्रकार की भावधारा है। भावधारा परिवर्तन के साथ ही आभामंडल परिवर्तित हो जाता है। उसके रंगों में रूपांतरण उतर आता है और आभामंडल की आभा से, उसकी बनावट से व्यक्ति के आंतरिक भावों की, व्यक्तित्व की पहचान हो जाती है।

प्रमुखता हमारी भावधारा की लेश्याओं की है। हमारा आभामंडल ही क्यों, हमारी वृत्ति, प्रवृत्ति, शैली, स्वभाव, कर्म और कर्मबंध—सभी हमारी भावधारा पर निर्भर हैं। यदि हमारी भावधारा मलिन, दूषित और तुच्छ है तो—ये सब दूषित और निकृष्ट बन जाएंगे और यदि हमारी भाव श्रेणी विशुद्ध, उत्तम, उत्कृष्ट है—तो हमारे हर चिंतन में, प्रत्येक प्रवर्तन में विशुद्धता और उत्कृष्टता आ जाएगी।

लेश्या ध्यान का प्रयोजन

लेश्या ध्यान हमारे समग्र जीवन को संस्कारित, संतुलित, स्वस्थ, पवित्र और ज्योतिर्मय बनाने की प्रक्रिया है। लेश्या ध्यान की साधना का लक्ष्य है—अंतर्दृष्टि का जागरण, व्यक्तित्व का रूपांतरण, शारीरिक-रासायनिक परिवर्तन, लेश्याओं का विशुद्धीकरण और भावधारा का निर्मलीकरण। ये सब उद्देश्य लेश्या ध्यान की सघन साधना से उपलब्ध किए जा सकते हैं। लेश्या ध्यान से अंतश्चेतना में एक नई स्फूरणा होती है, अंतर्दृष्टि का विकास होता है और भावधारा विशुद्ध तथा यथार्थग्राही बनती है। हमारी सब उपलब्धियों का, समस्त विकासों और बदलावों का मूलाधार भावतंत्र है।

क्या है लेश्या

कृष्ण आदि रंगीन परमाणुओं के संयोग से चेतना का जो एक विशेष पर्याय बनता है—उसे लेश्या कहते हैं। यह आत्मा का ही एक विशेष परिगमन है, जो पौद्गलिक विविध प्रकार के द्रव्यों के साहचर्य से बनता है। विभिन्न प्रकार के रंगीन द्रव्यों के योग से बनने के कारण यह आत्मा का परिणाम अनेक प्रकार का हो जाता है। इसको लेश्याधारा या भावधारा कहते हैं। भावधारा जितने प्रकार की होती है, उतनी ही लेश्याएं बन जाती हैं। जैन दर्शन ने उन सबको छह प्रकारों में समेटा है। उन छह प्रकारों में प्रथम तीन प्रकार अप्रशस्त और अगले तीन प्रकार प्रशस्त माने गए हैं। प्रथम तीन—कृष्ण, नील और कपोत—ये अशुभ अधर्म लेश्याएं हैं, अगली तीन—तेजस, पद्म और शुक्ल—ये शुभ-धर्म लेश्याएं मानी गई हैं। लेश्याओं की भावनाओं के अनुरूप ही इनका वर्ण-विधान किया गया है।

कृष्ण लेश्या का रंग काला है, नील लेश्या का रंग नीला और कपोत लेश्या का रंग कबूतर के समान होता है। तेजो लेश्या का रंग लाल, पद्म लेश्या का रंग पीला, और शुक्ल लेश्या का रंग सफेद होता है। रंगों के अनुरूप ही लक्षण होते हैं। आकुलता, आर्तता, खिन्नता, रुद्रता, आवेश, मात्सर्य, क्षुद्रता, निर्दयता और वैरवृत्ति—ये कृष्ण लेश्या के लक्षण हैं। आलस्य, अज्ञान, विषय-लोलुपता, मायाचार, वक्रता, कायरता और अहंकार—ये नील लेश्या के लक्षण हैं। शोकाकुलता, बार-बार रूठना, पर-निंदा, दूसरे के मर्म-भेदन की वृत्ति, आत्म-प्रशंसा और संग्रह का भाव—ये कपोत लेश्या के लक्षण हैं। प्रथम वर्गीय तीनों लेश्याएं निकृष्ट, अधम और हेय हैं। ये मलिन-अशुद्ध चेतना की परिणतियां हैं। ये जटिलता, विषमता और विपत्तियां बढ़ाने वाली हैं। अतः इनका परित्याग अत्यावश्यक है।

दूसरे वर्ग की तीनों लेश्याओं के समूह जाग्रत और ऊर्ध्वमुखी चेतना की अभिव्यक्तियां हैं। ये उत्कृष्ट, उत्तम और उपादेय हैं। ये आत्मिक गुण सरलता, समता, शांति और समाधि के लिए उत्तरोत्तर संवर्धक हैं। अतः इनका आगे से आगे विकास अपेक्षित है। इनके लक्षण ही इनकी विशिष्टता को अभिव्यंजित करते हैं। प्रबुद्धता, करुणाशीलता, कार्याकार्य की सन्मति, लाभालाभ, प्रतिकूलता-अनुकूलता में समता भाव, हर स्थिति में संतोष आदि—तेजोलेश्या के लक्षण हैं। दयालुता, त्याग-भावना, आत्मसाधना, तत्परता, शुचिता और आत्मानंद आदि—पद्म लेश्या के लक्षण हैं। राग-द्वेष से सर्वथा मुक्ति, वीतरागता, शोक-निद्रा आदि प्रवृत्तियों से मुक्ति और परमात्म-भाव-संपन्नता—शुक्ल लेश्या के लक्षण हैं।

लेश्या ध्यान लेश्याओं के रूपांतरण और भावधारा को परम पवित्र बनाने की प्रक्रिया है। लेश्या ध्यान रंगों का ध्यान है। हमारे चारों ओर रंगों का साम्राज्य है। रंग हमारे मानसिक, भावात्मक और शारीरिक—सर्वांग व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं।

वैज्ञानिकों के अनुसार भी हमारा सारा जीवन-तंत्र रंगों के आधार पर चलता है। वर्तमान में मनोवैज्ञानिकों और वैज्ञानिकों ने यह खोज की है कि व्यक्ति के अंतरमन का अवचेतन मन को और मस्तिष्क को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला तत्त्व रंग है, जो समूचे व्यक्तित्व को प्रभावित करता है।

रंगों का कार्य

लाल रंग—यह स्नायु मंडल को स्फूर्ति देता है और रक्त को सक्रिय करता है। पांचों इंद्रियों की क्रियाशीलता इसी रंग पर निर्भर करती है। रक्तिम किरणें 'लिवर' और मांसपेशियों के लिए लाभप्रद होती हैं। लाल रंग मस्तिष्क के दाएं भाग को सक्रिय रखता है। मनोविज्ञान की दृष्टि से लाल वर्ण स्वास्थ्य का संवाहक होता है।

पीला रंग—यह नाड़ियों को और मांसपेशियों को शक्तिशाली बनाता है। इसमें घन चुंबकीय विद्युत होती है, जो नाड़ी मंडल को मजबूत और मस्तिष्क को सक्रिय बनाती है। कब्ज, यकृत और प्लीहा के रोगों को शांत करने में उपयोगी है। पीला रंग बुद्धि और दर्शन का रंग है। इसके प्रयोग से मानसिक कमजोरी, उदासीनता आदि मिटते हैं। यह प्रसन्नता और आनंद का सूचक है।

हरा रंग—यह मानसिक शांति और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उपयोगी है। यह हड्डियों और कोशिकाओं को शक्ति-संपन्न बनाता है। यह रक्तचाप और रक्तवाहिनी नाड़ियों के तनाव को कम करता है। यह कीटाणुनाशक 'एंटीसेप्टिक' है। भावात्मक गड़बड़ी में हरे रंग की किरणें मस्तिष्क पर डाल कर चिकित्सा की जाती है। हरा रंग शक्ति, यौवन, आशा, अनुभव और नवजीवन का प्रतीक है।

नीला रंग—यह रक्त के लिए 'टॉनिक' है। बढ़े हुए रक्तचाप को सामान्य बनाने के लिए यह रंग उपयोगी है। यह नाड़ी संस्थान की उत्तेजना को कम करता है। भावनात्मक स्थितियों में हरा रंग अधिक लाभदायक है। यह ध्यान और आध्यात्मिक विकास का रंग है। यह स्नायविक दुर्बलता, धातुक्षय, स्वप्नदोष में लाभ पहुंचाता है। हृदय तथा मस्तिष्क को शक्ति देता है। यह मन को शांत और विशुद्धि केंद्र को सक्रिय करता है। यह सत्य, समर्पण, शांति, प्रामाणिकता, आंतरिक ज्ञान और प्रातिभ ज्ञान का सूचक है।

श्वेत रंग—यह मनुष्य में गहरी शांति और जितेंद्रियता का भाव उत्पन्न करता है।

इस तरह विभिन्न प्रकार के रंगों का विभिन्न प्रभाव होता है। रंगों के प्रयोग से व्यक्ति को रोगी और स्वस्थ बनाया जा सकता है। वर्तमान में अन्य चिकित्साओं के समान ही रंग चिकित्सा (कलर थैरेपी) कार्य कर रही है। हमारा शरीर रंगों का पिंड है। शरीर क्या—वाणी, विचार और विविध भावनाएं सब रंगीन हैं। रंगों का असंतुलन होने से गड़बड़ियां होती हैं। लेश्या ध्यान से भावनाओं में बदलाव आता है। भावनाओं के रूपांतरण से रंग संतुलित हो जाते हैं। व्यक्ति निरोग, स्वस्थ बन जाता है। रंग हमारे शरीर और मन को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करता है। रंग से रोग मिटते हैं, फिर चाहे वे रोग शारीरिक हों या मानसिक । मानसिक रोग चिकित्सा में भी रंग का विशिष्ट स्थान है।

शरीर में रंग की कमी के कारण अनेक प्रकार की बीमारियां उत्पन्न होती हैं। रंग चिकित्सा विज्ञान (कलर थैरेपी) का यह सिद्धांत है कि बीमारी के कोई कीटाणु नहीं होते, रंग की कमी के कारण रोग होते हैं। जिस रंग की कमी हुई है, उसकी पूर्ति कर दो—रोग मिट जाएगा, व्यक्ति स्वस्थ हो जाएगा। व्यक्तित्व विकास का और जीवन के श्रेष्ठ-श्रेयकर निर्माण का सशक्त साधन है—लेश्या ध्यान। जब तेजस, पद्म और शुक्ल लेश्या का ध्यान किया जाता है, तब पूरे जीवन में महान बदलाव आ जाता है। भावधारा विशुद्ध, पवित्र बन जाती है। अशुभ लेश्याओं के स्पंदन अवरुद्ध हो जाते हैं।

बुरा चिंतन, बुरे विचार, बुरी आदतें, दूषित प्रवृत्तियां, क्रूरता, प्रवंचना, हत्या के भाव, विषय-लोलुपता, मायाचार और प्रमाद आदि जितने दोष हैं—सब कृष्ण, नील और कपोत—इन अधर्म लेश्याओं की निष्पत्तियां हैं। शुभ लेश्या ध्यान से इनसे सर्वथा मुक्ति मिल जाती है और अंतःवृत्तियों का विशुद्धीकरण हो जाता है।

लेश्या ध्यान की प्रविधि

प्रेक्षाध्यान की साधना पद्धति में लेश्या ध्यान बहुत महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट प्रयोग है। यह सीधा लेश्याओं की

भावनाओं के रूपांतरण का महापथ है। इसमें सशक्त सहायक बनते हैं—रंग। लेश्या ध्यान में निश्चित केंद्रों पर निश्चित रंगों का ध्यान किया जाता है। यह एकाग्रता से, सघन संकल्पपूर्वक रंगों के साक्षात्कार के माध्यम से भीतर की भावधारा को परिवर्तित करने का अचूक प्रयोग है। अंदर की भावनाएं जब मलिनता का और विभिन्न विद्रूपताओं, विकृतियों का परिवर्जन-परित्याग कर स्वस्थ, निर्मल और विशुद्ध-निर्द्वंद्व बन जाती हैं—तब अभीष्ट साध्य को सिद्ध करने में अनन्य-अपूर्व सहयोगी बनती हैं।

लेश्या ध्यान के समुद्र में उतरने के लिए सीधी छलांग नहीं लगाई जा सकती है। इससे पूर्व शरीर-शिथिलता का घाट निर्माण और स्वादमंदता व प्राण-संतुलन का तदनुकूल परिवेश बनाना आवश्यक है।

लेश्या ध्यान प्रारंभ करने से पहले सर्वप्रथम शांत दशा में कायोत्सर्ग के माध्यम से सबल मानसिक निर्देशन देते हुए, शरीर को शिथिल बनाते हुए शरीर का शिथिलीकरण करें। श्वास प्रेक्षा के द्वारा श्वास को लयबद्ध और समतल बनाते हुए श्वासमंदता को साधें और दीर्घश्वास प्रेक्षा करते हुए प्राण-संतुलन को उपलब्ध करें।

लेश्या ध्यान का प्रयोग

अपने चित्त को ज्ञानकेंद्र पर केंद्रित करें। वहां पर स्वर्ण के समान चमकते हुए पीले रंग का साक्षात्कार करें। सघनता से अनुभव करें—अपने चारों ओर पीले रंग का प्रकाश फैल रहा है। पीले रंग के परमाणु फैल रहे हैं। अब इस पीले रंग का श्वास लें। अनुभव करें कि प्रत्येक श्वास के साथ पीले रंग के परमाणु शरीर के भीतर प्रवेश कर रहे हैं। चित्त को बराबर ज्ञानकेंद्र पर केंद्रित रखें। वहां पर चमकते हुए पीले रंग का साक्षात्कार करते रहें। उसे तन्मयता से देखें, अनुभव करें। अनुभव करें कि ज्ञानतंतु विकसित हो रहे हैं, ज्ञानतंतु विकसित हो रहे हैं, ज्ञानतंतु विकसित हो रहे हैं। मेरी स्मृति प्रखर हो रही है, मेरी स्मृति प्रखर हो रही है, मेरी स्मृति प्रखर हो रही है।

इसी तरह आवेश, आवेग, क्रोध-मुक्ति के लिए तथा परमानंद के लिए ज्योति केंद्र पर श्वेत रंग का ध्यान करें। अंतर्दृष्टि-जागरण के लिए दर्शन केंद्र पर अरुण रंग का ध्यान, वासनाओं को अनुशासित और नियंत्रित करने हेतु विशुद्धि केंद्र पर मयूर की गर्दन के समान चमकते हुए नीले रंग का ध्यान और भावधारा की निर्मलता, विशुद्धता के लिए आनंद केंद्र पर हरे रंग का ध्यान करें।

ये सभी प्रयोग अंततः हमारे आभामंडल को परिपुष्ट करते हैं और ऐसा होने से ही हमारा शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य परिपुष्ट हो सकता है। ❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500–2000 शब्दों से लेकर 2500–3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुलस्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

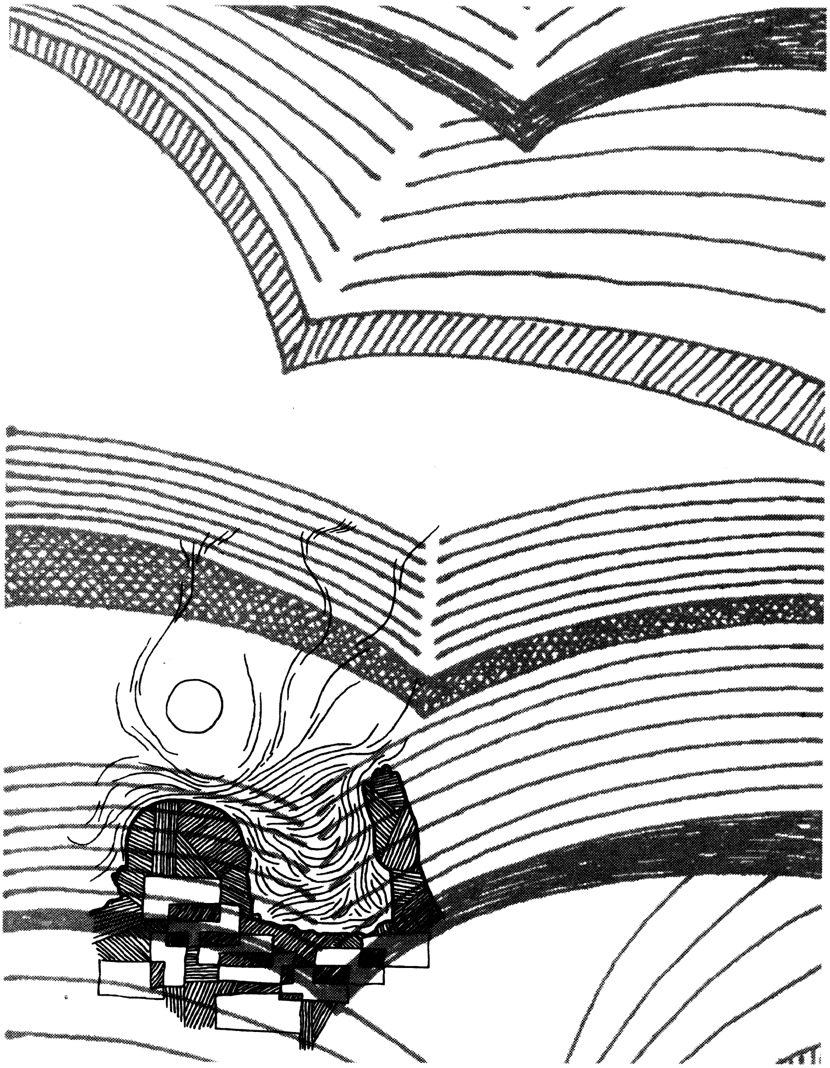

अनुभूति

धार्मिकता विधायक होती है, संग्राहक होती है, व्यापक होती है। उसमें कलह की गुंजाइश ही नहीं है। 'मैं अपनी माता का हूं'—इसका यह अर्थ हरगिज नहीं है कि—'मैं दूसरी माताओं का नहीं हूं।' इसीलिए तो मैं अपनी माता से प्रेम करता हुआ भी सभी स्त्रियों को 'मातृवत' मान सकता हूं। उसी तरह मुझे अपने धर्म को अपने प्राणों से प्यारा मानते हुए भी अन्य धर्मों को 'स्वधर्मवत' मानना सीखना चाहिए। यही 'सर्वधर्म-समभाव' है।

—दादा धर्माधिकारी

आस्था : स्वयं के प्रति

अध्यात्म की चेतना को जगाना, अपने-आप पर आस्था केंद्रित करना, अपने-आप को जानना, अपनी खोज करना, खोज के संदर्भ में आने वाले कष्टों के लिए स्वयं को समर्पित करना, कष्ट-सहिष्णुता का विकास करना, कष्टों को आनंद में बदल देना—यह सारी प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से केवल शारीरिक संस्थान ही प्रभावित नहीं होता, केवल शरीर की 'केमिस्ट्री' ही नहीं बदलती, अपितु यह प्रक्रिया सूक्ष्म-जगत तक पहुंच कर हमारे सूक्ष्म-शरीर, तैजस-शरीर और कर्म-शरीर को प्रभावित करती है और वहां पहुंच कर विकृतियों के अस्तित्व को ही समाप्त कर देती है। कर्म-शरीर सारी विकृतियों का मूल है। ध्यान की प्रक्रिया से उस पर प्रहार होता है।

❑

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

❑ ❑

एक बार का प्रसंग है। किसी विद्वतजन से बातचीत हो रही थी। उसने पूछा—'आप गुरु किसे मानते हैं?' मैंने कहा—'मैं अपने-आप को ही गुरु मानता हूं।' उसने प्रति-प्रश्न किया—'क्या महावीर और आचार्यश्री तुलसी को गुरु नहीं मानते?'—मैंने कहा—'नहीं, मैं स्वयं को ही अपना गुरु मानता हूं।'—मेरे इस उत्तर ने उसे असमंजस में डाल दिया। वह मेरी ओर देखने लगा। मैं मन-ही-मन उसके मन के उतार-चढ़ाव को पढ़ता रहा।

उसका मन जिज्ञासा के ज्वार से भर गया था। मैंने उसके मौन को तोड़ते हुए कहा—'मैं महावीर को मानता हूं—यह निर्णय मेरा है या महावीर का? निर्णायक मैं हूं। मैं ही अपना गुरु हूं, इसीलिए महावीर को मैं गुरु मानता हूं। अगर मैं अपना गुरु नहीं होता तो महावीर को गुरु नहीं मानता। मैं आचार्यश्री तुलसी को गुरु मानता हूं—यह निर्णय मैंने किया या आचार्यश्री तुलसी ने? यदि आचार्यश्री तुलसी ही यह निर्णय करें, तो फिर मुझे ही क्यों, सारे संसार को ही अपना शिष्य बना लें। आचार्यश्री तुलसी को गुरु मानने में मैं ही निर्णायक हूं, अत: मैं ही अपना गुरु हूं।'

जिस व्यक्ति की अपने प्रति ही आस्था नहीं होती, अपने अस्तित्व के प्रति विश्वास नहीं होता, जो अपने में नहीं टिकता, उसके लिए भटकाव ही भटकाव शेष रहता है। उसे और कुछ भी प्राप्त नहीं होता। मैं आचार्यश्री तुलसी को गुरु इसीलिए मानता हूं कि उन्होंने मुझे सिखाया कि अपने-आप को देखो, अपने-आप को जानो। अपने भीतर की यात्रा करो। यदि आचार्यश्री तुलसी सिखाते कि मुझे ही मानो, मेरे प्रति ही समर्पित हो जाओ, मुझे ही देखो—तो मुझे सोचना पड़ता कि आचार्यश्री तुलसी को गुरु मानूं या नहीं? आचार्यश्री तुलसी को ही गुरु मानूं तो क्यों मानूं? दूसरे को गुरु क्यों नहीं मानूं?

महावीर ने भी यही सिखाया—**संपिक्खए अप्पगमप्पएणं**—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो। स्वयं सत्य को खोजो। यदि महावीर यह कहते—सत्य खोजने का अधिकार तुम्हें नहीं है। तुम बस मुझे मानते रहो, मानते चलो, आंख मूंद कर मेरे पीछे चलते चलो। यदि यह होता,

तो महावीर को गुरु मानने के लिए भी मेरा मन नहीं करता। मैं महावीर को गुरु इसलिए मानता हूं कि उन्होंने कहा—'तुम स्वयं सत्य को खोजो। तुम स्वयं अपने पथ का निर्माण करो। अपने पथ पर स्वयं चलो।'

मैं मानता हूं कि जो गुरु या आचार्य अपने शिष्य को इतनी स्वतंत्रता नहीं देता, एक प्रबुद्ध साधक उनका शिष्यत्व स्वीकार नहीं कर सकता। दूसरों पर आस्था को टिकाने की बात में बहुत बड़ा खतरा है। कोई भी सत्यनिष्ठ आचार्य अपने शिष्य को यही बताएगा कि अपने अस्तित्व को ही आस्था का केंद्र बनाओ। मेरे से कोई पथ-दर्शन लेना चाहो, तो लो। स्वयं चलो। स्वयं खपो और स्वयं तपो। तब ही सत्य उपलब्ध होगा। गुरु बांधता नहीं, मुक्त करता है।

मेरे गुरु ने मुझे बांधा नहीं। मैंने साम्यवादी साहित्य पढ़ा, स्टॉलिन और लेनिन को पढ़ा, नास्तिक साहित्य का भी गहरा अध्ययन किया। मुझे कभी नहीं रोका गया। यह कभी नहीं कहा—'तुम साम्यवादी साहित्य पढ़ते हो तो कहीं साम्यवादी न हो जाओ।' वे पढ़ने की प्रेरणा देते रहे। लोगों ने मुझे साम्यवादी, नास्तिक आदि उपाधियों से उपमित किया, पर आचार्यश्री ने उनकी बातों को मात्र बचपने की बातें माना।

गंगाशहर की घटना है। एक बार मंत्री मुनि ने मुझे पूछा—'आजकल क्या पढ़ रहे हो?' मैंने कहा—'कर्म-ग्रंथों का अध्ययन कर रहा हूं, अन्यान्य दर्शनों को भी पढ़ रहा हूं।' उन्होंने तत्काल आचार्यश्री को कहा—'गुरुदेव ! यह कर्म-ग्रंथों को और अन्यान्य दर्शनों को पढ़ रहा है, कहीं मूल श्रद्धा में कमजोरी तो नहीं है? कहीं ऐसा न हो कि पढ़ते-पढ़ते अपनी दिशा ही बदल दे।'—आचार्यश्री ने कहा—'कोई चिंता की बात नहीं है। मूल दृढ़ है।' आचार्यश्री ने मुझे कभी नहीं रोका।

गुरु वह होता है, जो कभी रोकता नहीं। उसमें यह कमजोरी नहीं होती कि शिष्य अन्यान्य चीजें पढ़ेगा तो दूसरी दिशा में बह जाएगा, भटक जाएगा। गुरु यदि रोकता है, तो मैं समझता हूं कि उस गुरु की गुरुता में ही कहीं कमी है, उसके मन में भय है। जो गुरु अपने शिष्य को स्वयं के अस्तित्व पर टिका देता है, अपनी आस्था पर टिका देता है, फिर शिष्य कुछ भी पढ़े, कोई खतरा नहीं है।

आज भटकाव बहुत है। अनेक आकर्षण हैं। यह महत्त्वपूर्ण है कि अपने-आप पर भरोसा है या नहीं, अपने अस्तित्व पर भरोसा है या नहीं? यदि स्वयं पर आस्था है, तो सब-कुछ ठीक है। फिर आदमी कहीं भी जाए, किसी के पास रहे, किसी की उपासना करे—कोई खतरा नहीं है। जो इस आस्था के आधार पर साधना करते हैं, जिन्हें अपने-आप पर आस्था और विश्वास है, जो अपने-आप को खोज रहे हैं—वे अपने-आप को पाने का प्रयत्न भी कर रहे हैं।

साधना की प्राथमिक आवश्यकता है—अपने-आप को देखना। देखना बहुत जरूरी है। प्रेक्षा-ध्यान एक अनोखा दर्पण है जो केवल प्रतिबिंब ही प्रस्तुत नहीं करता, भद्देपन को भी मिटाता है। यह एक ऐसा 'एक्स-रे' है, जो भीतर की बीमारियों का लेखा-जोखा ही प्रस्तुत नहीं करता, उनकी सूचना ही नहीं देता—उनको मिटा भी देता है।

प्रेक्षा का अर्थ है—देखना। यह बहुत शक्तिशाली तत्त्व है। सबसे पहली क्रिया है—देखना। दूसरी है प्राण-शक्ति का नियोजन। हम प्रेक्षा में देखते भी हैं और साथ-साथ प्राणधारा का नियोजन भी करते हैं। **मनो यत्र मरुत् तत्र**—जहां-जहां मन की यात्रा होती है, प्राणधारा भी वहां का स्पर्श करती है। ध्यान करने वाले को कभी-कभी अनुभव होता है कि ध्यान किया, बीमारी को देखा और मिट गई। बीमारी को मिटाना चेतना का काम नहीं है। यह काम है—प्राण-शक्ति का। जहां-जहां चेतना जाती है, प्राण भी उसके पीछे-पीछे चलता जाता है। दोनों साथ-साथ जाते हैं। आगे चेतना और पीछे प्राण। चेतना देखती जाएगी और प्राण उस अस्वस्थ भाग को स्वस्थ करता जाएगा। देखना इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि देखे बिना प्राण भी अपना काम ठीक से नहीं कर पाता। जब हम प्राण की प्रक्रिया का सहारा लेते हैं, तब चेतना का नियोजन भी जरूरी होता है। जहां चेतना नियोजित होती है, वहां प्राण अपने-आप सक्रिय हो जाता है और अपना काम प्रारंभ कर देता है।

पर, प्रेक्षा के अभ्यास में कुछ बाधाएं हैं। तर्क आदमी को उलझा देता है। इतनी बड़ी दुनिया में इतनी प्रक्रियाएं हैं कि आदमी भूल-भुलैया में फंस जाता है। किस प्रक्रिया को अपनाए और किसे छोड़े? एक तर्क प्रक्रिया का समर्थन करता है तो दूसरा उसको काट देता है। तर्क का यह अनंत वात्याचक्र आदमी को निर्णय नहीं करने देता। आदमी भटक जाता है। आस्था को टिकाने की बात का एक समाधान नहीं होता। मैं कहना चाहता हूं

कि आस्था को कहीं भी न टिकाएं, किसी पर न टिकाएं। यदि टिकाना ही इष्ट हो तो केवल अपने पर टिकाएं, दूसरों पर नहीं। दूसरों पर आस्था टिकाएंगे तो धोखा खाएंगे। भटकाव होगा। इसलिए सबसे पहले अपने-आप को आस्था का केंद्र बनाएं। आप चाहते हैं कि आप आत्मा को उपलब्ध हों, चैतन्य को उपलब्ध हों—तो दूसरों पर आस्था टिकाने से यह उपलब्धि कैसे संभव हो सकती है? यह कभी संभव नहीं है। दूसरा केवल पथ-दर्शक बन सकता है, आस्था अपने पर ही होगी। हम पथ-दर्शक का चुनाव कर सकते हैं, उसको खोज सकते हैं, किंतु उसे अपनी संपूर्ण आस्था नहीं दे सकते। आत्मा को ही आस्था का केंद्र बनाया जा सकता है।

गीता में कृष्ण कहते हैं—'चार प्रकार के व्यक्ति मेरी भक्ति करते हैं—'आर्त, जिज्ञासु, ज्ञानी और अर्थार्थी।'—आदमी जब दुखी होता है तब मेरी भक्ति करता है। जब तक उसे कोई पीड़ा नहीं सताती, वह मुझे कभी याद नहीं करता। आम्रपाली अपने समय की प्रसिद्ध नर्तकी थी। उसने एक बार बुद्ध से कहा—'भंते ! आप मेरे पास कभी नहीं आते।'—बुद्ध बोले—'अभी जरूरत नहीं है, जिस दिन जरूरत होगी, मैं अवश्य आऊंगा।'—वह बूढ़ी हो गई। उसका शारीरिक लावण्य मिट गया। अब उसके पास कोई नहीं आता। तब बुद्ध पहुंचे और बोले—'प्रिये! मैं आ गया।'—आम्रपाली ने कहा—'भंते! अब समय बीत गया। अब मेरे में बचा ही क्या है? वह शारीरिक सौंदर्य अब नहीं रहा। आप आज क्यों आए?'—बुद्ध ने कहा—'प्रिये! यही तो समय है आने का। पहले तुझे मेरी आवश्यकता भी नहीं थी। धर्म की आवश्यकता तुझे अब महसूस हो रही है। मैं उसकी पूर्ति करने आया हूं।'

पीड़ा और दुख के समय भगवान और धर्म को याद किया जाता है। जब व्यक्ति महसूस करता है कि उसकी उपेक्षा हो रही है, सब उसको सता रहे हैं, वह बूढ़ा और शिथिल हो गया है, व्याकुलता बढ़ गई है, मन बेचैन है—तब उसे भगवान याद आते हैं, धर्म की बात याद आती है।

दूसरी बात है कि जब मन में जिज्ञासा जाग जाती है कि मैं सत्य का साक्षात्कार करूं। मैं यह जानूं कि आत्मा क्या है? चैतन्य क्या है? मोक्ष क्या है? उस जिज्ञासु अवस्था में व्यक्ति भगवान की उपासना कर अपने को समाहित करना चाहता है। जिज्ञासा सत्य तक पहुंचाने वाला मार्ग है।

तीसरी बात है कि ज्ञानी व्यक्ति परम की उपासना करता है, ईश्वर और सत्य के प्रति समर्पित हो जाता है। ज्ञान की आराधना सत्य की आराधना है। ज्ञानी जान जाता है कि संसार में सार क्या है और निस्सार क्या है। वह जानता है कि सत्य का मार्ग कौन-सा है।

चौथी बात है कि अर्थार्थी व्यक्ति भगवान की उपासना करता है। जब व्यक्ति के मन में पदार्थ की आकांक्षा उभर जाती है, वह उसकी पूर्ति के लिए भगवान की उपासना करता है, धर्म की आराधना करता है।

ध्यान के प्रति आकर्षण पैदा करने के लिए कृत्रिम आकर्षण पैदा नहीं करना चाहिए। हमने साध्य-शुद्धि के साथ-साथ साधन शुद्धि का पाठ भी पढ़ा है। केवल साध्य की शुद्धि ही पर्याप्त नहीं होती। उसके साथ साधन की शुद्धि भी आवश्यक होती है। ध्यान के क्षेत्र में आने वाले साधक एक निष्ठा के साथ चलते हैं। यहां केवल अध्यात्म है, कोरा अध्यात्म। कुछ भी अतिरिक्त नहीं। जो व्यक्ति अपनी पीड़ा को शांत करना चाहता है, सत्य को जानना चाहता है, कषाय को दूर करना चाहता है—वह ध्यान में अग्रसर होता है। साधक के सामने ध्यान का इतना विशाल क्षेत्र है कि कोई उसका साथी हो या न हो, वह अनंत जनमों तक सत्य की खोज में जुटा रह सकता है।

ध्यान रूपांतरण की प्रक्रिया है। उससे आदतें बदलती हैं, स्वभाव बदलता है और पूरा व्यक्तित्व बदल जाता है। इस रूपांतरण की वैज्ञानिक व्याख्या की जा सकती है। आज का विज्ञान भी इस बात को समर्थित करने लगा है कि आदमी का रूपांतरण हो सकता है। विज्ञान के अनुसार हमारे मस्तिष्क में आर.एन.ए. नामक रसायन होता है, जो हमारी चेतना की परतों पर छाया रहता है। विज्ञान ने यह खोज निकाला है कि यह रसायन व्यक्तित्व के रूपांतरण का घटक है। इसे घटाया-बढ़ाया जा सकता है। इसके आधार पर ही रूपांतरण घटित होता है। आदतें बदलती हैं। पुरानी आदतों को छोड़ कर नई आदतें डाली जा सकती हैं।

हमारे शरीर में तीन केंद्र हैं। एक केंद्र वह है, जहां तरंगें पैदा होती हैं। दूसरा केंद्र वह है, जहां से तरंगें गुजरती हैं। तीसरा केंद्र वह है, जहां तरंगें अभिव्यक्त होती हैं। हमारे शरीर में सारी व्यवस्था है। एक केंद्र है, जहां से क्रोध की तरंगें उठती हैं। वह स्नायुओं से गुजरती हैं और एक केंद्र पर आकर प्रकट हो जाती हैं। एक व्यक्ति को क्रोध आता है,

तब यह बताने की आवश्यकता नहीं होती कि यह अब क्रोध के वशीभूत है। उसकी आंखें लाल हो जाती हैं। उसकी भृकुटी तन जाती है। होंठ फड़कने लग जाते हैं। अपने-आप ज्ञात हो जाता है कि गुस्सा आ रहा है, या आ गया है। यह अभिव्यक्ति ज्ञात हो जाती है। किंतु क्रोध की तरंगों के गुजरने का पथ ज्ञात नहीं होता। उसे हर व्यक्ति जान ही नहीं सकता। आज का विज्ञान इन सारी बातों को जानता है। प्रत्येक वृत्ति के केंद्र को उसने खोज लिया है कि वृत्ति की तरंगें किस पथ से गुजरती हैं, यह भी उसे ज्ञात है। अमुक वृत्ति के केंद्र पर प्रहार करके, उसे निष्क्रिय कर देने पर वह वृत्ति समाप्त हो जाती है। कर्मशास्त्रीय भाषा में कहा जा सकता है कि उस कर्म के विपाक को बंद कर डाला। विपाक का मार्ग अवरुद्ध हो जाने के कारण वह वृत्ति कभी नहीं उभर सकती। एक नाड़ी को काट देने से क्रोध समाप्त हो जाता है। एक नाड़ी को काट देने से उत्तेजना समाप्त हो जाती है। उन वृत्तियों की अभिव्यक्ति का केंद्र निष्क्रिय हो जाता है। यहां एक बात पर विशेष ध्यान देना है कि इस प्रक्रिया में तरंगों की अभिव्यक्ति समाप्त हुई है, किंतु तरंगों की उत्पत्ति समाप्त नहीं हुई। उनके गुजरने का रास्ता बंद हुआ है, उनकी उत्पत्ति का स्रोत नष्ट नहीं हुआ है। वह वैसा ही है। उसी प्रकार सजीव है, सक्रिय है। आदमी नहीं बदला, मुखौटा बदल गया। बाहर का बदल गया। भीतर में कुछ भी नहीं बदला। नींद में सोए आदमी को आप कितनी ही गालियां दें, वह गुस्सा नहीं करता। तब क्या हम मान लें कि उसका गुस्सा समाप्त हो गया? नींद में वह अप्रामाणिक बर्ताव नहीं करता। नींद में वह उत्तेजना का शिकार नहीं होता—तो क्या हम मान लें कि ये सब वृत्तियां समाप्त हो गयीं? नींद की अवस्था में, सुषुप्ति की अवस्था में अभिव्यक्ति नहीं होती। किंतु, इससे यह नहीं माना जा सकता कि व्यक्तित्व बदल गया, रूपांतरण घटित हो गया।

हम यह मानते हैं कि आत्मा है। वह पुनर्भवी है। वह कर्म की कर्ता है। वह कर्म को बांधती है। कर्म अपना फल देते हैं। कर्मों को भोगना ही पड़ता है। जब हम समग्रता की दृष्टि से इन नियमों के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो लगता है कि वैज्ञानिक उपचार केवल सामयिक उपचार हैं, किंतु समस्या का स्थायी या अंतिम समाधान नहीं हैं। उसका अंतिम समाधान है—व्यक्ति तरंगातीत अवस्था में चला जाए। क्रोध या किसी भी वृत्ति की तरंगें पुष्ट होती हैं—पुनरावृत्ति के द्वारा। क्रोध को क्रोध का सिंचन मिलता है, तो वह पुष्ट होता है। क्रोध को क्रोध का सिंचन न मिले, तो क्रोध का पौधा अपने-आप मुरझा जाता है। अध्यात्म का सिद्धांत है—सामायिक का सिद्धांत। अध्यात्म का सिद्धांत है—अपने-आप को देखने का सिद्धांत। यही तरंगातीत चेतना की भूमिका है।

जब व्यक्ति तरंगातीत अवस्था में पहुंच जाता है, तब न राग का तरंग रहता है और न द्वेष का तरंग रहता है। तब न प्रियता होती है और न अप्रियता होती है। उस स्थिति में क्रोध की तरंग जहां से उठती है, उस पर ही प्रहार नहीं होता, अपितु जो उस तरंग को उठाने का उत्तरदायी है, उस पर भी प्रहार होता है। वैज्ञानिक उपकरणों का, उनके द्वारा उत्पादित औषधियों का प्रभाव मस्तिष्कीय स्तरों पर, स्नायु-संस्थान या नाड़ी-मंडल पर होता है, किंतु इस तरंगातीत ध्यान का, इस चैतन्य की अनुभूति का और समता का प्रभाव इस शरीर पर ही नहीं होता, अपितु वृत्तियों की तरंगों को पैदा करने वाले पर भी होता है। यह मूल पर प्रहार करने की प्रक्रिया है, इसलिए यह स्थायी समाधान है। विज्ञान से आगे की प्रक्रिया है। तरंगातीत अवस्था तक पहुंचने की यही एकमात्र प्रक्रिया है। इसका अवलंबन लिए बिना उसकी प्राप्ति असंभव है।

अध्यात्म की चेतना को जगाना, अपने-आप पर आस्था केंद्रित करना, अपने-आप को जानना, अपनी खोज करना, खोज के संदर्भ में आने वाले कष्टों के लिए स्वयं को समर्पित करना, कष्ट-सहिष्णुता का विकास करना, कष्टों को आनंद में बदल देना—यह सारी प्रक्रिया ध्यान की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया से केवल शारीरिक संस्थान ही प्रभावित नहीं होता, केवल शरीर की 'केमिस्ट्री' ही नहीं बदलती, अपितु यह प्रक्रिया सूक्ष्म-जगत तक पहुंच कर हमारे सूक्ष्म-शरीर, तैजस-शरीर और कर्म-शरीर को प्रभावित करती है और वहां पहुंच कर विकृतियों के अस्तित्व को ही समाप्त कर देती है। कर्म-शरीर सारी विकृतियों का मूल है। ध्यान की प्रक्रिया से उस पर प्रहार होता है।

ध्यान-प्रक्रिया की खोज विश्व की महानतम खोज है। जो व्यक्ति तरंगातीत अवस्था को प्राप्त करने की दिशा में एक चरण भी आगे रखते हैं, वे वास्तव में सत्य-साक्षात्कार की दिशा में प्रस्थित हैं। उनकी संख्या चाहे दो-चार ही हो या अधिक हों। संख्या गौण है। मूल है—उस दिशा में प्रस्थान।

एक दिन आचार्यश्री भिक्षु ने साधुओं से कहा—'आओ, व्याख्यान शुरू करें।'—साधुओं ने

कहा—'कोई श्रोता तो है ही नहीं, व्याख्यान किसे सुनाएंगे?'—आचार्यश्री भिक्षु बोले—'क्या तुम श्रोता नहीं हो? मैं व्याख्यान देता हूं। तुम सुनो।' आचार्यश्री भिक्षु ने व्याख्यान प्रारंभ कर दिया। साधु सुनने लगे। यह क्रम चला। लोग भी आने लगे।

यही बात ध्यान-साधकों को करनी चाहिए। यदि ध्यान करने वाला दूसरा व्यक्ति न हो, तो स्वयं को ही ध्यान में लगा दें। स्वयं ही ध्यान करने वाले और स्वयं ही ध्यान कराने वाले—दोनों बन जाएं। साधना में अध्यात्म का आकर्षण रहे। हमारा आकर्षण केवल अध्यात्म के प्रति रहे, परिग्रह के प्रति न हो। आज जब मैं देखता हूं कि अध्यात्म को भी कुछेक लोगों ने व्यवसाय बना डाला है, तब बहुत कष्ट होता है। इससे हम बचें।

हमारा आकर्षण स्वयं के प्रति रहे, अन्य के प्रति नहीं। अन्य के प्रति होने वाले आकर्षण में धोखा हो सकता है। साधक की आस्था स्वयं के प्रति ही हो। वह इस आस्था को विस्तार दे और संकल्प-शक्ति द्वारा अपने मस्तिष्कीय रसायनों को बदलने का प्रयत्न करे। इससे एक नई दिशा उद्घाटित होगी, अध्यात्म यशस्वी और शक्तिशाली बनेगा। ❖

फार्म-4 (नियम 8 देखिए)

1.	प्रकाशन स्थान	:	गंगाशहर, बीकानेर
2.	प्रकाशन अवधि	:	मासिक
3.	मुद्रक का नाम	:	दीपचन्द सांखला
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	सांखला प्रिंटर्स विनायक शिखर, शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003
4.	प्रकाशक का नाम	:	बिनोदकुमार चोरड़िया
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा शाखा कार्यालय : तेरापंथ भवन गंगाशहर 334401 (बीकानेर) राजस्थान
5.	संपादक का नाम	:	शुभू पटवा
	क्या भारतीय नागरिक है	:	हां
	पता	:	भीनासर, बीकानेर
6.	उन व्यक्तियों के नाम व पते, जो समाचार पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पत्र के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों।	:	जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1

मैं, बिनोदकुमार चोरड़िया एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

बिनोदकुमार चोरड़िया
प्रकाशक के हस्ताक्षर

श्रुत आराधना : अज्ञान क्षय

शास्त्रकार ने कहा कि श्रुत की आराधना से आदमी का अज्ञान नष्ट हो जाता है, ज्ञान की चेतना उभर जाती है और वह संक्लेश को प्राप्त नहीं होता। जिसमें अध्यात्म विद्या का ज्ञान नहीं है, वह संक्लिष्ट हो सकता है। उदाहरण के लिए जैसे कोई एक साधु बीमार हो गया, शरीर में वेदना होने पर वह सोचता है—यह बीमारी बिना बुलाए आई है, इसलिए यह मेरी अतिथि है। मैं इस पर द्वेषभाव न करूं, समताभाव से सहन करूं, मुझे निर्जरा का लाभ मिलेगा। मेरे पुराने कर्म कटेंगे। मैं इसमें दुख क्यों करूं, दुखी क्यों बनूं? मानना चाहिए कि ऐसे साधु को कर्मवाद का ज्ञान है, निर्जरा का ज्ञान है। इसलिए उसने बीमारी के साथ भी मैत्री का प्रयोग किया। उस बीमारी को अपनी कर्म-निर्जरा का साधन बना लिया, जिससे उसके मन में संक्लेश का भाव नहीं आया। अगर अध्यात्म विद्या का ज्ञान न हो तो थोड़ी-सी बीमारी में भी आदमी घबरा सकता है, मन में दुख भोग सकता है, मानसिक व्यथा की अनुभूति कर सकता है।

❑

युवाचार्यश्री महाश्रमण

❑ ❑

उत्तराध्ययन सूत्र के उनतीसवें अध्ययन में एक प्रश्नोत्तर प्राप्त होता है। प्रश्न किया गया है—**सुयस्स आराहणयाए णं भंते। जीवे किं जणयइ**—भंते! श्रुत की आराधना से जीव क्या प्राप्त करता है ? उत्तर दिया गया—**सुयस्स आराहणयाएणं अण्णाणं खवेइ न य संकिलिस्सइ**—श्रुत की आराधना से जीव अज्ञान का क्षय करता है और राग-द्वेष आदि से उत्पन्न होने वाले मानसिक संक्लेशों से बच जाता है।

इस दुनिया में ज्ञान का बहुत महत्त्व है। ज्ञानी आदमी स्वयं की समस्याओं का समाधान तो करता ही है, दूसरों की समस्याओं को भी समाहित कर सकता है और समस्या पैदा न हो, ऐसी स्थिति का निर्माण भी कर सकता है।

जैन कर्मवाद के अनुसार कर्म आठ हैं। उन आठों कर्मों का उनके कार्य के अनुसार संक्षेपीकरण किया जाए तो चार स्थितियां बनती हैं। यों भी कहा जा सकता है कि हमारे व्यक्तित्व के चार आयाम हैं। उन चारों के साथ आठ कर्मों का संबंध है । ये चार आयाम हैं—ज्ञानात्मक व्यक्तित्व, शरीरात्मक व्यक्तित्व, प्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्व और भावात्मक व्यक्तित्व। ज्ञानात्मक व्यक्तित्व के साथ ज्ञानावरणीय कर्म और दर्शनावरणीय कर्म का संबंध है। शरीरात्मक व्यक्तित्व के साथ वेदनीय कर्म, आयुष्य कर्म और नामकर्म का योग है। प्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्व के साथ नामकर्म और गोत्रकर्म का संबंध है। भावात्मक व्यक्तित्व के साथ मोहनीय कर्म का संबंध है। अंतराय कर्म इन चारों के साथ जुड़ा हुआ रहता है। इन कर्मों के आधार पर ये चारों व्यक्तित्व अच्छे भी बन सकते हैं और बुरे भी बन सकते हैं। यदि ज्ञानावरणीय और

दर्शनावरणीय कर्म का प्रबल उदय है, तो हमारा ज्ञानात्मक व्यक्तित्व कमजोर रह जाता है। आदमी पूरा समझ भी नहीं पाता और ज्ञानपूर्ण बात भी बता नहीं सकता। ज्ञान की चेतना कुछ आवृत हो जाती है।

शरीरात्मक व्यक्तित्व का तात्पर्य है—किसी का शरीर बहुत सुंदर और स्वस्थ होता है, तो किसी का शरीर बेडोल, भद्दा और अस्वस्थ होता है। स्वस्थता और अस्वस्थता के साथ वेदनीय कर्म का संबंध है। अगर सात वेदनीय कर्म का उदय है, तो शरीर स्वस्थ रहता है और असात वेदनीय कर्म का उदय है, तो शरीर रुग्ण बन जाता है। सात वेदनीय कर्मबंध के कई कारण बताए गए हैं। जैसे—प्राण, भूत, जीव और सत्त्व को अपनी असत् प्रवृत्ति से दुख न देना, दीन न बनाना, शरीर को हानि पहुंचाने वाला शोक पैदा न करना, न रुलाना, लाठी आदि से प्रहार न करना, परितापित न करना। इसी तरह जिस व्यक्ति के मन में निरनुकंपा रहती है, क्या का भाव नहीं रहता, किसी को दुख देने का प्रयास किया जाता है—तो असात वेदनीय का बंध हो जाता है। किसी का आयुष्य बहुत लंबा होता है और किसी का आयुष्य बहुत छोटा होता है। आयुष्य की दीर्घता और अल्पता का संबंध आयुष्य कर्म के साथ होता है। सत्कर्म के द्वारा अच्छा आयुष्य और दुष्कर्म के द्वारा खराब आयुष्य का बंध हो जाता है। शरीर की सुंदरता और कुरूपता नामकर्म के साथ जुड़ी हुई है। शुभ नामकर्म का उदय है तो शरीर सुंदर होगा और अशुभ नामकर्म का उदय होगा तो शरीर असुंदर या कुरूप बन जाता है। यह हमारा शरीरात्मक व्यक्तित्व है।

अब हम प्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्व की बात करें। इस में किसी व्यक्ति को सम्मान मिलता है, उसकी बात का आदर होता है, जो-कुछ वह कह देता है उसकी आज्ञा का पालन किया जाता है। कोई छोटी अवस्था में मंत्री अथवा बड़े पद पर आसीन हो जाता है। इन सबमें प्रतिष्ठात्मक व्यक्तित्व और उससे जुड़ा हुआ नामकर्म और गोत्रकर्म काम करता है। मेरा मत है कि पुण्य का योग न हो तो प्रतिष्ठा नहीं मिलती। सबके अपने-अपने पुण्य होते हैं। गुरुदेवश्री तुलसी 22 वर्ष की अवस्था में तेरापंथ धर्मसंघ के आचार्य बन गए। उनका पुण्य अवश्य ही प्रबल था। तभी वे इतनी छोटी अवस्था में तेरापंथ के सरताज बन गए। यदि पुण्य का योग नहीं होता तो इतनी प्रतिष्ठा नहीं मिलती। जिसके अशुभ नामकर्म, नीच गोत्रकर्म का उदय है, उसको प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं होती। लोग उसका तिरस्कार करते हैं, अवहेलना करते हैं।

भावात्मक व्यक्तित्व के साथ मोहनीय कर्म जुड़ा हुआ है। जब मोहनीय कर्म का क्षय, क्षयोपशम होता है—तब आदमी में क्षमा, संतोष, ऋजुता आदि के भाव रहते हैं और जब मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होता है तब आदमी का भावात्मक व्यक्तित्व खराब हो जाता है। बार-बार गुस्सा आना, अहंकार करना, मन में अशांति रहना, तनाव रहना—यह सब मोहनीय कर्म के उदय के साथ जुड़ा हुआ है।

श्रुत की आराधना करने का तात्पर्य है कि मानो अपने आराध्यदेव की ही आराधना हो गई। भक्तिपूर्वक जो श्रुत की आराधना करते हैं, वे अपने आराध्यदेव यानी तीर्थंकर भगवान, अर्हत की आराधना ही करते हैं। चूंकि तीर्थंकर ज्ञानमय हैं, तीर्थंकर की चेतना ज्ञानमय है, अत: शास्त्रकार ने कहा कि श्रुत की आराधना से आदमी का अज्ञान नष्ट हो जाता है, ज्ञान की चेतना उभर जाती है और वह संक्लेश को प्राप्त नहीं होता। जिसमें अध्यात्म विद्या का ज्ञान नहीं है, वह संक्लिष्ट हो सकता है। उदाहरण के लिए जैसे कोई एक साधु बीमार हो गया, शरीर में वेदना होने पर वह सोचता है—यह बीमारी बिना बुलाए आई है, इसलिए यह मेरी अतिथि है। मैं इस पर द्वेषभाव न करूं, समताभाव से सहन करूं, मुझे निर्जरा का लाभ मिलेगा। मेरे पुराने कर्म कटेंगे। मैं इसमें दुख क्यों करूं, दुखी क्यों बनूं ? मानना चाहिए कि ऐसे साधु को कर्मवाद का ज्ञान है, निर्जरा का ज्ञान है। इसलिए उसने बीमारी के साथ भी मैत्री का प्रयोग किया। उस बीमारी को अपनी कर्म-निर्जरा का साधन बना लिया, जिससे उसके मन में संक्लेश का भाव नहीं आया। अगर अध्यात्म विद्या का ज्ञान न हो तो थोड़ी-सी बीमारी में भी आदमी घबरा सकता है, मन में दुख भोग सकता है, मानसिक व्यथा की अनुभूति कर सकता है। एक आदमी का किसी ने अपमान कर दिया, उसके मन में संक्लेश हो सकता है। पदोन्नति की जगह पदावनति हो जाए, तो मन में वेदना हो सकती है। मन की वेदना बाहर दिखे या न दिखे, किंतु उसको भोगने वाला जानता ही है कि वह व्यक्ति को कितना सताती है। वह एक कांटे की तरह कष्ट देने वाली होती है। इसके विपरीत वह व्यक्ति महान है जो किसी की मनोव्यथा को दूर कर देता है और चित्त-समाधि प्रदान करता है।

अष्टमाचार्य पूज्य कालूगणी के समय का प्रसंग है। एक मुनि जो अग्रणी थे, किसी बात को लेकर उनका अग्रगण्यत्व समाप्त कर दिया गया और उनके सहवर्ती मुनि को अग्रणी बना कर उनके ही साथ उनको दे दिया गया। इस प्रकार के प्रसंग से व्यक्ति के मन पर कितना असर हो सकता है, कितना मानसिक संक्लेश हो सकता है? किंतु, जिसकी ज्ञानात्मक चेतना जाग्रत होती है और भावात्मक व्यक्तित्व प्रशस्त होता है—वह व्यक्ति ऐसी स्थिति को भी शांति के साथ झेल सकता है। इसे उच्च साधना का प्रमाण माना जा सकता है। जिसके मन में किसी भी परिस्थिति में किसी प्रकार का भी संक्लेश न हो, पीड़ा न हो—बड़ी शांति के साथ, पूरे अंतर्मन से प्रतिकूल स्थिति को स्वीकार कर ले तो मानना चाहिए कि उसमें ज्ञान की चेतना जाग गई है। जब ज्ञान की चेतना जाग जाती है तो कोई उलझन नहीं रहती। सहज संतोष की भावना जब जाग जाती है, तब मानसिक संक्लेश कम हो जाता है।

आदमी अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में समता का विकास करे और साथ में ज्ञान-आराधना करे तो वह असंक्लेश की अवस्था में रह सकता है। ❖

रचनाकारों से

जैन भारती में नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के विचार–प्रधान व विश्लेषणात्मक लेखों और मौलिक कहानियों–कविताओं का स्वागत है, प्रकाशित–प्रसारित रचनाओं का उपयोग करना संभव नहीं होगा

अपनी रचनाएं कागज के एक तरफ साफ–साफ टाइप की हुई भेजें
हाथ से लिखी हुई रचनाएं भी कागज के एक ओर ही लिखी हों

लिखावट साफ–सुथरी, बिना काट–छांट के होनी चाहिए
कागज के एक ओर पर्याप्त हाशिया अवश्य छोड़ें

जीवन परिचय, व्यक्तित्व व कृतित्व पर लिखे गए लेख सीधे नहीं भेजें
ऐसे लेख हमारे मांगने पर ही लिखें व भेजें तो बेहतर होगा

समसामयिक विषयों पर विचारात्मक टिप्पणियों का भी हम स्वागत करेंगे
ऐसे लेख भी नैतिक–आध्यात्मिक स्तर के हों और विश्लेषणात्मक हों तो बेहतर होगा

महिलाओं, किशोरों और बाल–मन पर
आधारित रचनाओं का हम स्वागत करेंगे

आप चाहें तो कहानी–कविता
भी भेज सकते हैं

अप्रकाशित रचनाएं लौटाना अथवा इस बारे में
पत्र–व्यवहार करना संभव नहीं होगा

बेहतर हो, भेजी गई रचना की एक प्रति रचनाकार
पहले से ही अपने पास रखें

होली : आध्यात्मिक तेवर

वसंत ऋतु के आने के बाद अलख अमूर्त आत्मा अध्यात्म की ओर पूरी तरह से झुक गई। कवि ने फिर यहां फाग और होलिका का रूपक खड़ा किया और उसके अंग-प्रत्यंगों का सामंजस्य अध्यात्म क्षेत्र से किया। 'नय चाचरि पंक्ति' मिल गई, 'ज्ञान ध्यान' डफताल बन गया, 'पिचकारी' पद भी साधना हुई, 'संवरभाव गुलाल' बन गया, 'शुभ-भाव' भक्ति तान में 'राग विराम' अलापने लगा, परम रस में लीन होकर दस प्रकार के दान देने लगा। दया की रस भरी मिठाई, तप का मेवा, शील का शीतल जल, संयम का नागर-पान खाकर, निर्लज्ज होकर गुप्ति अंग प्रकट होने लगा, अकथ-कथा प्रारंभ हो गई, उद्धत गुण रसिया मिल कर अमल विमल रस प्रेम में सुरति की तरंगें हिलोरने लगीं। रहस्य भावना की पराकाष्ठा हो जाने पर परम ज्योति प्रकट हुई। अष्टकर्म रूप काष्ठ जल कर होलिका की आग बुझ गई, पचासी प्रकृतियों की भस्म को भी स्नानादि करके धो दिया और स्वयं उज्ज्वल हो गया।

❑

डा. पुष्पलता जैन

❑ ❑

जैन साधकों और कवियों ने आध्यात्मिक विवाह की तरह आध्यात्मिक होली की सर्जना भी की है। इसको फागु भी कहा गया है। इन होलियों और फागों में उपयोगी पदार्थों (रंग, पिचकारी, केसर, गुलाल, विविध वाद्य आदि) को प्रतीकात्मक ढंग से अभिव्यंजित किया गया है। इसके पीछे आत्मा-परमात्मा के साक्षात्कार से संबद्ध आनंदोपलब्धि का उद्देश्य रहा है। यह होली अथवा फाग आत्मा रूपी नायक शिवसुंदरी रूपी नायिका के साथ खेलता है। कविवर बनारसीदास ने 'अध्यात्म फाग' में—**अध्यातम बिन क्या पाइये हो, परम पुरुष कौ रूप। अघट अंग घट मिल रह्यो हो महिमा अगम अनूप**—की भावना से वसंत को बुला कर विविध अंग-प्रत्यंगों के माध्यम से फाग खेली और होलिका का दहन किया और 'विषम विरस' दूर होते ही 'सहज वसंत' का आगमन हुआ। इसी के साथ 'सुरुचि-सुगंधिता' प्रकट हुई। 'मन-मधुकर' प्रसन्न हुआ। 'सुमति-कोकिला' का गान प्रारंभ हुआ। अपूर्व वायु बहने लगी। 'भरम-कुहर' दूर होने लगा। 'जड़-जाड़ा' घटने लगा। 'माया-रजनी' छोटी हो गई। 'समरस-शशि' का उदय हो गया। 'मोह-पंक' की स्थिति कम हो गई। 'संशय-शिशिर' समाप्त हो गया। 'शुभ-पल्लव दल' लहलहा उठे। 'अशुभ पतझर' होने लगी। इसी तरह 'मलिन-विषयरति' दूर हो गई, 'विरति-बेलि' फैलने लगी, 'शशिविवेक' निर्मल हो गया, 'थिरता-अमृत' हिलोरें लेने लगा, 'शक्ति सुचंद्रिका' फैल गई, 'नयन-चकोर' प्रमुदित हो उठे, 'सुरति-अग्निज्वाला' भभक उठी, 'समकित सूर्य' उदित हो गया, 'हृदय-कमल' विकसित हुआ, 'सुयश-मकरंद' प्रकट हो गया, 'दृढ़ कषाय' हिमगिरि जल गया, 'निर्जरा-नदी' में धारणाधार 'शिव-सागर' की ओर बहने लगी, 'वितथ वात' प्रभुता मिट गई, यथार्थ कार्य जाग्रत हो गया, वसंतकाल में जंगल भूमि सुहावनी लगने लगी।[1] तभी तो कहा गया—

होली प्रसंग
❑ 10 मार्च ❑

विशम विरण पूरा भयो हो, आयो सहज वसंत।
प्रगटी सुरुचि सुगंधिता हो, मन मधुकर मयमंत।।
अध्यातम विन क्यों पाइये हो।

सुमति कोकिला गह गही हो, वही अपूरब वाउ।
भरम कुहर बादर फटे हो, घट जाडो जड़ ताउ।।
अध्यातम।।

मायारजनी लघु भई हो, समरस दिवशशि जीत।
मोह पंक की थिति घटी हो, संशय शिशिर व्यतीत।।
अध्यातम।।

शुभ दल पल्लव लहलहे हो, होहि अशुअ पतझार।
मलिन विषय रति मालती हो, विरति वेलि विसतार।।
अध्यातम।।

शशिविवेक निर्मल भयो हो, थिरता अभय झकोर।
फैली शकित सुचंद्रिका हो, प्रमुदित नैम-चकौर।।
अध्यातम।।

सुरति अग्नि ज्वालागी हो, समकित भनु अमंद।
हृदय कमल विकसित भयो हो, प्रगट सुजश मकरंद।।
अध्यातम।।

दिढ कषाय हिमगिर गले हो, नदी निर्जरा जोर।
धार धारण बह चल हो, शिवसागर मुख और।।
अध्यातम।।

वितथ वात प्रभुता मिटी हो, जग्यो जथारथ काज।
जंगलभूमि सुहावनी हो, नश्प वसंत के राज।।
अध्यातम।।

वसंत ऋतु के आने के बाद अलख अमूर्त आत्मा अध्यात्म की ओर पूरी तरह से झुक गई। कवि ने फिर यहां फाग और होलिका का रूपक खड़ा किया और उसके अंग-प्रत्यंगों का सामंजस्य अध्यात्म क्षेत्र से किया। 'नय चाचरि पंक्ति' मिल गई, 'ज्ञान ध्यान' डफताल बन गया, 'पिचकारी' पद भी साधना हुई, 'संवरभाव गुलाल' बन गया, 'शुभ-भाव' भक्ति तान में 'राग विराम' अलापने लगा, परम रस में लीन होकर दस प्रकार के दान देने लगा।[2] दया की रस भरी मिठाई, तप का मेवा, शील का शीतल जल, संयम का नागर-पान खाकर, निर्लज्ज होकर गुप्ति अंग प्रकट होने लगा, अकथ-कथा प्रारंभ हो गई, उद्धत गुण रसिया मिल कर अमल विमल रस प्रेम में सुरति की तरंगें हिलोरने लगीं। रहस्य भावना की पराकाष्ठा हो जाने पर परम ज्योति प्रकट हुई। अष्टकर्म रूप काष्ठ जल कर होलिका की आग बुझ गई, पचासी प्रकृतियों की भस्म को भी स्नानादि करके धो दिया और स्वयं उज्ज्वल हो गया। इसके उपरांत फाग का खेल बंद हो जाता है। फिर मोहपाश के नष्ट होने पर सहज आत्मशक्ति के साथ खेलना प्रारंभ हो जाता है—

नय पंकति चाचरि मिलि हो ज्ञान ध्यान डफताल।
पिचकारीपद साधना हो संवर भाव गुलाल।।
अध्यातम।।

राग विराम अलापिये हो भावभगति थुमतान।
रीझ परम रसलीनता दीजे दश विधिदान।।
अध्यातम।।

दया मिठाई रसभरी हो तप मेवा परधान।
शील सलिल अति सीयलो हो संजम नागर पान।।
अध्यातम।।

गुपति अंग परगासिये हो यह निलज्जता रीति।
अकथ कथा मुखभ खिये हो यह गारी निरनीति।।
अध्यातम।।

उद्धत गुण रसिया मिले हो अमल विमल रस प्रेम।
सुरत तरंगमह छकि रहे हो, मनसा वाचा नेन।।
अध्यातम।।

परम ज्योति परगट भई हो, लगी होलिका आग।
आठ काठ सब जरि बुझे हो, गई तताई भाग।।
अध्यातम।।

प्रकृति पचासी लगि रही हो, भस्म लेख है सोय।
न्हाय धोय उज्जवल भये हो, फिर तहं खेल न कोय।।
अध्यातम।।

सहज शक्ति गुण खेलिये हो चेत बनारसीदास।
सगे सखा ऐसे कहे हो, मिटे मोह दधि फास।।
अध्यातम।।[3]

जगतराम ने जिन राजा और शुद्ध परिणति रानी के बीच खेली जाने वाली होली का मनोरम दृश्य उपस्थित किया है। वे स्वयं उस रंग में रंग गए हैं और होली खेलना चाहते हैं, पर उन्हें खेलना नहीं आ रहा है—**कैसे होरी खेली खेलि न आवै**। क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तृष्णा आदि पापों के कारण चित्त चपल हो गया। ब्रह्म ही एक ऐसा अक्षर है, जिसके साथ खेलते ही मन प्रसन्न हो जाता है।[4] उन्होंने एक अन्यत्र स्थान पर 'सुध बुध गोरी' के साथ 'सुरुचि गुलाल' लगा कर फाग भी खेली है। उनके पास 'समताजल' की पिचकारी है जिससे 'करुणा-केसर' का गुण छिटकाया है। इसके बाद अनुभव की पान-सुपारी और सरस रंग लगाया—

सुध बुध गोरी संग लेय कर, सुरुचि गुलाल लगा रे तेरे।
समता जल पिचकारी, करुणा केसर गुण छिरकाय रे तेरे।।
अनुभव पानि सुपारी चरचानि, सरस रंग लगाय रे तेरे।
राम कळे जै इह विधि पेले, मोक्ष महल में जाय रे।।[5]

द्यानतराय ने होली का रस चित्रण प्रस्तुत किया है। वे सहज वसंतकाल में होली खेलने का आह्वान करते हैं। दो दल एक-दूसरे के सामने खड़े हैं। एक दल में बुद्धि, दया, क्षमा रूप नारी वर्ग खड़ा हुआ है और दूसरे दल में रत्नत्रयादि गुणों से सजा आत्मा रूप पुरुष वर्ग है। ज्ञान, ध्यान, रूप, डफ, ताल आदि वाद्य बजते हैं, घनघोर अनहद नाद होता है, धर्म रूपी लाल वर्ण का गुलाल उड़ता है, समता का रंग घोल लिया जाता है, प्रश्नोत्तर की तरह पिचकारियां चलती हैं। एक ओर से प्रश्न होता है—तुम किसकी नारी हो, तो दूसरी ओर से प्रश्न होता है, तुम किसके लड़के हो ? बाद में होली के रूप में अष्टकर्म रूप ईंधन को अनुभव रूप अग्नि में जला देते हैं और फलतः चारों ओर शांति हो जाती है। इसी शिवानंद को प्राप्त करने के लिए कवि ने प्रेरित किया है[6]—

आयो सहज वसंत खेलै, सब होरी होरा।।
उत बुधि देया छिमा बहुणढ़ी, इत जियं रतन सजे गुनन जोरा।।
ज्ञान ध्यान डफ ताल बजत है अनहद शब्द होत घनघोरा।।
धरम सुराग गुलाल उड़त है, समता रंग दुहुं ने घोरा।।आयो.।।
परसन उत्तर भरि पिचकारी, छोरत दोनों कटि कटि जोरा।।
इततैं कहैं नारि तुम काकी, उततैं कहैं कौन को छोरा।।
आठ काठ अनुभव पावक में, जल बुझ शांत भई सब ओरा।।
द्यानत शिव आनंद चंद छबि, देखे सज्जन नैन चकोरा।।[7]

जिस समय सारा नगर होली के खेल में मस्त है, सुमति अपने पति चेतन के अभाव में खेद-खिन्न है। उसे इस बात का अत्यंत दुख है कि उसका पति अपनी सौत कुमति के साथ होली खेल रहा है। इसलिए सोचती है—**पिया विन कासों खेलों होरी** (द्यानत पद संग्रह, पद 193)। संयोगवश चेतनराय घर वापस आते हैं और सुमति तल्लीन होकर उनके साथ होली खेलती है—**भली भई यह होरी आई आये चेतनराय** (वही, पद 193)।

इसी प्रकार वे चेतन से समता रूपी प्राणप्रिया के साथ 'छिमा वसंत' में होली खेलने का आग्रह करते हैं। प्रेम के पानी में करुणा की केसर घोल कर ज्ञान-ध्यान की पिचकारी से होली खेलते हैं। उस समय गुरु के वचन ही मृदंग है, निश्चय व्यवहार नय ही ताल है, संयम ही इत्र है, विमल व्रत ही चौला है, भाव ही गुलाल है, जिसे अपनी झोली में भर लेते हैं, धर्म ही मिठाई है, तप ही मेवा है, समरस से आनंदित होकर दोनों होली खेलते हैं। ऐसे ही चेतन और समता की जोड़ी चिरकाल तक बनी रहे, यह भावना सुमति अपनी सखियों से अभिव्यक्त करती है—

चेतन खैलौ होरी।।
समता भूमि छिमा वसंत में, समता प्रान प्रिया संग गौरी।।
मन को माट प्रेम को पानी, तामें करुना केसरघोर,
ज्ञान ध्यान पिचकारी भरि भरि, आप में छारै होरा होरी।।
गुरु के वचन मृदंग बजत हैं, नय दोनों, डफताल टकोरी,
संजम अंतर विमला व्रत चौवा, भाव गुलाल भरै भर झोरी।।
धरम मिठाई तप बहुमेवा, समरस आनंद अमल कटोरी,
द्यानत सुमति कहें सखियन सों, चिरजीवो यह जुग जुग जोरी।।

इसी प्रकार कविवर भूधरदास का भी आध्यात्मिक होली का वर्णन देखिए—

अहो दोऊ रंग भरे खेलत होरी।।
अलख अमूरति की जोरी।।
इनमें आतमराम रंगीले, उतते सुबुद्धि किसोरी।
या के ज्ञान सखा संग सुंदर, वाके संग समता गौरी।।
सुचि मन सलिल दया रस केसरि, उदै कलस में घोरी।
सुधि समझि सरल पिचकारी, सखिय प्यारी भरि भरि छोरी।।
सतगुरु सीख तान घर पद की, गावत होरा होरी।
पूरव बंध अबीर उड़ावत, दान गुलाल भर झोरी।।
भूधर आज बड़े भागिन, सुमति सुहागिन मोरी।
सौ ही नारि सुलछिनी जन में, जासों पति ने रनि जोरी।।[8]

एक अन्य कृति में भूधरदास अभिव्यक्त करते हैं कि उसका चिदानंद जो अभी तक संसार में भटक रहा था, घर वापस आ गया है। यहां भूधर स्वयं को प्रिया मान कर और चिदानंद को प्रीतम मान कर उसके साथ होली खेलने का निश्चय करते हैं—**होरी खेलूंगी घर आये चिदानंद** क्योंकि मिथ्यात्व का शिशिर समाप्त हो गया, काललब्धि का वसंत आया, बहुत समय से जिस अवसर की प्रतीक्षा थी, सौभाग्य से वह समय आ गया, प्रिय के विरह का अंत हो गया, अब उसके साथ फाग खेलना है। कवि ने यहां श्रद्धा को गगरी बनाया, उसमें रुचि का केसर घोला, आनंद का जल डाला और फिर उमंग की पिचकारी प्रिय पर छोड़ी। कवि अत्यंत प्रसन्न है। उसकी कुमति रूप सौत का वियोग हो गया। वह चाहता है कि इसी प्रकार सुमति बनी रहे—

होरी खेलूंगी घर आए चिदानंद।
गिरा मिथ्यात गई अब, आई काल की लब्धि वसंत।।होरी।।
पीय संग खेलनि कों, हय सइये तरसी काल अनंत।।
भाग जग्यो अब माग रचनौ, आयो विरह को अंत।।
सरधा गागरि में रुचि रूपी केसर घोरी तुरंत।।

आनंद नीर उमंग पिचकारी, छोड़ूंगी नीकी भंत।।
आज वियोग कुमति सोननिकों, मेरे हरष अनंत।।
भूधर धनि एही दिन दुर्लभ सुमति राखी विहसंत।।[9]

नवलराम ने भी ऐसी ही होली खेलने का आग्रह किया है। उन्होंने निज परणति रूप सुहागिन और सुमतिरूपी किशोरी के साथ यह खेल खेलने के लिए कहा है। ज्ञान का जल भर कर पिचकारी छोड़ी, क्रोध मान का अबीर उड़ाया, राग गुलाल की झोली ली, संतोष पूर्वक शुभ भावों का चंदन लिया, समता की केसर घोली, आत्मा की चर्चा की, 'ममता' का त्याग कर करुणा का पान खाया और पवित्र मन से निर्मल रंग बना कर कर्ममल को नष्ट किया[10]—

इह विधि खेलिये होरी हो चतुर नर।।
निज परनति संगि लैहु समहागिन,
अरू पुनि सुमति किशोरी हो।
ग्यान मइ जल सौ भरि भरि केख सबद पिचरिका छोरी।
क्रोध मान अबीर उड़ावौ राग गुलाल की झौरी ही।।

एक अन्यत्र होली में वे पुन: कहते हैं—**ऐसे खेल होरी को खेलिरे**—जिसमें कुमति ठगौरी को त्याग कर सुमति—गोरी के साथ होली खेल। आगे नवलराम यह भाव दर्शाते हैं कि उन्होंने इसी प्रकार होली खेली, जिससे उन्हें शिव पेढ़ी का मार्ग मिल गया।

ऐसे खेल होरी कौ खेलिरे।।
कुमति ठगोरी कौं अब तजि करि, तु साथ सुमति गोरी को।।
नवल हसी विधि खेलत है, ते पावत हैं मग शिव पौरी को।।[11]

बुधजन भी चेतन को सुमति के साथ होली खेलने की सलाह देते हैं—**चेतन खेल सुमति रंग होरी**। कषायादि को त्याग कर, समकित की केसर घोल कर मिथ्या की शिल को चूर-चूर कर निज गुलाल की झोली धारण कर शिव-गोरी को प्राप्त करने की बात कही है,[12] कवि को विशुद्धात्मा की अनुभूति होने पर यह भी कह देते हैं—

निजपुर में आज मच्ची होरी।।
उमगि चिदानंद जी इत आये, इत आई सुमति गोरी।
लोक लाज कुलकानि गमाई, ज्ञान गुलाल भरी झोरी।
समकित केसर रंग बनायो, चारित की पिचुकी छोरी।
गावत अजपा गान मनोहर, अनहद झरसौं वरस्यो री।
देखन आये बुधजन भीगे, निरख्यौ ख्याल अनोखी री।[13]

सर्वत्र होली देख कर सुमति परेशान हो कह उठती है—**और सबै मिलि होरि रचावें हुं, करके संग खेलूंगी होरी** (बुधजन विलास, पद 43)। इसलिए बुधजन— **चेतन खेल सुमति संग होरी**—कह कर सत्गुरु की सहायता से चेतन को सुमति के पास वापस आने की सलाह देते हैं—(बुधजन विलास, पद 43)। आध्यात्मिक रहस्य भावना से ओत-प्रोत होने पर कवि का चेतनराय उसके घर वापस आ जाता है और फिर वह उसके साथ होली खेलने का निश्चय करता है—**अब घर आये चेतनराय, सजनी खेलौंगी मैं होरी**।—कुमति को दूर कर सुमति को प्राप्त करता है, निज स्वभाव के जल से हौज भर कर निजरंग की रोली घोलता है, शुद्ध पिचकारी लेकर निज मति पर छिड़कता है और अपनी अपूर्व शक्ति को पहचान लेता है—

अब घर आये चेतनराय, सजनी खेलांगी में होरी।
आरस सोच कानि कुल हरिके, घरि धीरज बरजोरी।।
बुरी कुमति की बात न बूझै, चितवत है मो ओरी,
वा गुरुजन की बलि-बलि जाऊं, दूरि करी मति भोरी।।
निज सुभाव जल हौज भराऊं, घोरुं निजरंग रोरी।
निज त्यौं ल्याय शुद्ध पिचकारी, छिरकन निज मति दोरी।।
गाय रिझाय आप वश करिके, जावन द्यौ नहि पौरी।
बुधजन रचि मति रहूं निरंतर, शक्ति अपूरब मोरी।। रजनी।।[14]

दौलतरामजी का मन भी ऐसी ही होली खेलता है। उन्होंने मन के मृदंग सजा कर, तन को तंबूरा बना कर, सुमति की सारंगी बजा कर, सम्यक्त्व का नीर भर कर, करुणा की केसर घोल कर, ज्ञान की पिचकारी से पंचेंद्रिय-सखियों के साथ होली खेली। आहारादिक चतुर्दान की गुलाल लगाई, तप के मेवा को अपनी झोली में रख कर यश की अबीर उड़ाई और अंत में भव-भव के दुखों को दूर करने के लिए—**फागुआ शिव होरी**—के मिलन की कामना करते हैं[15]—

मेरो मन ऐसी खेलत होरी।।
मन मिरदंग साजकरि त्यागी, तन को तमूरा बनोरी।
सुमति सुरंग सारंगी बजाई, ताल दोउ करजोरी।
राग पांचौं पद कोरी, मेरो मन।।
समकिति रूप नर भी झारी, करुना केसर घोरी।
ज्ञानमई लेकर पिचकारी, दोउ करमाहिं सह्योरी।
इंद्र पांचौं सखि बोरी, मेरो मन.।।
चतुरदान को है गुल्लाल सौ, भरि-भरि मूठि चलोरी।
तप मेवाकी भरि निज झोरी, यश की अबीर उड़ोरी।
रंग जिनधाम मचोरी, मेरो मन.।।

शेष पृष्ठ 49 पर

अमरूद का पेड़

यह बात मुझे बहुत रोमांचित करती थी कि हमारे घर तथा निकटतम संबंधियों के यहां नई पीढ़ी काफी बड़े अनुपात में आधुनिक हो चली है। मुझे मन:स्थितियों और वातावरण की इस तब्दीली का अध्ययन बड़ा सुखद लगा। हममें दृष्टिकोण की उदारता परिलक्षित होती और किसी भी घटना या आकस्मिकता या एक संपूर्ण परिस्थिति को हम लोग अनहोनी नहीं मानते थे। जीवन में सब सहज है, सब संभव। अमरूद की छाया में बेंत की कुर्सियों पर बैठ चर्चाएं कर-करके हम तीन-चार भाई-बहिनों ने अपने उम्र के फर्क को दोस्ताना हरकतों से भर दिया। प्राय: बैठ कर, नए-नए विषयों को कुरेद कर, कभी ताप और उग्रता के वशीभूत होकर बातचीत करना, तेजी से हम लोगों के मनोरंजन और दैनिक निर्वाह का एक अंग होता जा रहा था। मैंने महसूस किया कि घर के बुजुर्गों के बारे में हम लोग अक्सर तुर्श भी हो उठते हैं, लेकिन हमें इस बात की निश्चिंतता थी कि ऐसा होने में अवांछनीय कुछ भी नहीं है, अपितु यह अच्छी बात है। नई चीजें यूं ही बनती हैं। जैसे अमरूद का पेड़ हम लोगों के बीच अपशकुन के आरोपों को नष्ट करता हुआ धीरे-धीरे बना और वह अब पूरे परिवार का एक खूबसूरत हिस्सा हो गया है।

❑

ज्ञानरंजन

❑ ❑

कहानी

घर के सामने अपने-आप ही उगते और फिर बढ़ते हुए एक अमरूद के पेड़ को मैं काफी दिनों से देखता रहा हूं। केवल देखता ही नहीं, इस देखने में और भी चीजें शुमार हैं। तीन-चार साल में बड़े हो जाने, फूलने और फल देने के बाद भी उसकी ऊंचाई गंधराज या हरसिंगार के पेड़ से ज्यादा नहीं बढ़ी है। शुरू-शुरू में तो परिवार के सभी लोगों ने उसके प्रति उदासीनता ही रखी या कहूं लापरवाही बरती तो गलत नहीं होगा। पेड़ जब राम-भरोसे बड़ा हो गया और हमारे मकान का 'फ्रंट' जब भरा-भरा लगने लगा तो सबसे पहले बाबू कन्हैयालाल की बूढ़ी पत्नी ने एक दिन टोका कि पश्चिम की तरफ अगर मकान का मुखड़ा हो और सामने ही अमरूद का पेड़, तो 'राम-राम बड़ा अशुभ होता है।'—अम्मा के चेहरे पर तब थोड़ा-सा भय अपने कुनबे के लिए आया, पर मुझे विश्वास था कि इन सब पिछड़े खयालातों का हमारे घर में गुजर नहीं हो सकेगा।

मां अजमेर में जेल खाट चुकी हैं—लंबा जेल। सत्याग्रह के दिनों में। पिताजी खुद राजनीतिक-सामाजिक उदारता वाले आदमी हैं। हमारी एक बुआ ने विवाह नहीं किया और पढ़ने-लिखने में ही उन्होंने अपनी जिंदगी डुबो दी और समाज उन्हें कोई चुनौती देने का साहस नहीं कर सका। एक को छोड़ कर हम सभी भाइयों में खिलाड़ीपन है। चचेरे भाई ने अंतर्जातीय विवाह किया है और मुझे तरस आ गया कि कन्हैयालाल की बूढ़ी पत्नी कैसी बेहूदा-फूहड़ बात कहती है। खैर, यह तो ऊपरी बात हुई, लेकिन मैं अक्सर पाता कि अंदरूनी तौर पर भी हम सभी

लोगों में कहीं पिछड़ेपन की भर्त्सना का भाव अंकुरा रहा है। वैसे अम्मा की प्रीतिकर, सुंदर, गोरी मुखाकृति पर अमरूद के प्रसंग में हमेशा भय की व्याप्ति हो आती थी।

सत्तावन की बरसात में अकस्मात एक दिन मिद्दू ने सबको दौड़-दौड़ कर बताया कि अमरूद में तीन-चार सफेद फूल आ गए हैं। मिद्दू की उम्र बढ़ रही थी, उसकी आकृति पर वय का ओप चढ़ रहा था। अमरूद के बढ़ने में कहीं उसे अपने विकास की-सी संतुष्टि अनुभव हुई होगी। वह खुश थी। बरामदे की खिड़की पर तेज बारिश में हम लोग छोटे-से पप्पू को खड़ा कर यह बताते कि—'वो देखो पप्पू बेटे, अमरूद का फूल।'—मैं सोचता कि कहीं पानी के झोंकों में नरम फूल टूट न जाएं। बहुतेरे फूल टूटे भी, लेकिन उनकी जगह नए फूल आते गए और फिर जल्दी से बीत जाने वाले सुखद दिनों में वे फूल छोटे-छोटे अमरूदों में बदल गए।

मुझे लगा कि हमारे घर के सामने का यह अमरूद का पेड़ हमारी जिंदगी का एक घरेलू हिस्सेदार होता जा रहा है। घोष बाबू के माली ने मां को बताया कि पहली फसल के फल तोड़ कर फेंक देने से दूसरी बारी में फल खूब और अच्छे आते हैं। अमरूद और नींबू के साथ यह बात खास लागू होती है। मां ने विजय से कह कर अमरूद की पहली फसल बड़ी दिलचस्पी से पूरी बढ़त के पहले ही तुड़वा कर फिंकवा दी थी। यह बात आसानी से महसूस की जा सकती थी कि मां में विराट मातृत्व है और वह भविष्य के लिए प्रतीक्षा कर सकती हैं, उसी तरह जैसे हर मां अपनी संतान के लिए दीर्घ प्रतीक्षा किया करती है और फिर भी उसको अपना स्वप्न अधूरा लगता है। जो भी हो, मुझे प्रसन्नता हुई कि अपशकुनी विश्वासों की जहरीली छाया हमारे कोमल मीठे अमरूद तरु पर नहीं पड़ी।

तोते का पिंजरा सुबह दरवाजा खुलने के साथ ही अमरूद की एक छोटी-सी टहनी पर टांगा जाने लगा था। वह दोपहरी तक उस पर टंगा रहता। चुन्नू, मिद्दू और पप्पू ने फुरती से नाजुक फुनगियों तक चढ़ने की माहिरी इसी पेड़ से प्राप्त की। दशहरा, दीवाली, तीज-त्योहार पर दीदी की जीभ जब सूरन खाने को ललचाती तो अमरूद की पत्तियों में सूरन पका कर स्वादिष्ट बनाने वाली जरूरत की पूर्ति भी वही पेड़ करता था। कहते हैं कि अमरूद की पत्तियों में सूरन को पकाने से सूरन गले में काटता नहीं है। लगने लगा था कि अमरूद का पेड़ ज्यों हमारी एक बड़ी सुविधा है, या हमारे अंदर आत्मीयता को निरंतर धनिक बनाने वाला कोष।

दूसरे बरस के जाड़े में पेड़ खूब लदा-फदा था। अमरूद गोल, छोटे, मगर ललछर चित्तियों वाली जात के थे। ढेपियां मुलायम होते ही लोग उन्हें तोड़ लेते और पूरे जाड़े जी-भर कर घर में टमाटर और अमरूद का सलाद खाया गया। सुग्गे के लिए कई महीने खूब पके अमरूद उपलब्ध होते रहे और बाहर के मेहमान हमारे घर के अमरूदों में इलाहाबाद के अमरूद की प्रसिद्धि का इतमीनान कर लेते थे।

यह बात मुझे बहुत रोमांचित करती थी कि हमारे घर तथा निकटतम संबंधियों के यहां नई पीढ़ी काफी बड़े अनुपात में आधुनिक हो चली है। मुझे मन:स्थितियों और वातावरण की इस तबदीली का अध्ययन बड़ा सुखद लगा। हममें दृष्टिकोण की उदारता परिलक्षित होती और किसी भी घटना या आकस्मिकता या एक संपूर्ण परिस्थिति को हम लोग अनहोनी नहीं मानते थे। जीवन में सब सहज है, सब संभव। अमरूद की छाया में बेंत की कुर्सियों पर बैठ चर्चाएं कर-करके हम तीन-चार भाई-बहिनों ने अपने उम्र के फर्क को दोस्ताना हरकतों से भर दिया। प्राय: बैठ कर, नए-नए विषयों को कुरेद कर, कभी ताप और उग्रता के वशीभूत होकर बातचीत करना, तेजी से हम लोगों के मनोरंजन और दैनिक निर्वाह का एक अंग होता जा रहा था। मैंने महसूस किया कि घर के बुजुर्गों के बारे में हम लोग अक्सर तुर्श भी हो उठते हैं, लेकिन हमें इस बात की निश्चिंतता थी कि ऐसा होने में अवांछनीय कुछ भी नहीं है, अपितु यह अच्छी बात है। नई चीजें यूं ही बनती हैं। जैसे अमरूद का पेड़ हम लोगों के बीच अपशकुन के आरोपों को नष्ट करता हुआ धीरे-धीरे बना और वह अब पूरे परिवार का एक खूबसूरत हिस्सा हो गया है।

अमरूद फलता-फूलता रहा और अब पप्पू ने एक निहायत छोटा-सा झूला भी उस पर डाल लिया। इधर हम भाई लोग धीरे-धीरे अलग-अलग शहरों के भूगोल में जुदा तरीकों की नौकरी के लिए बंटने लगे। यह कोई असामान्य बात नहीं थी, सिवाय इसके कि घर से अलग होने में थोड़ा-बहुत मानसिक क्लेश सबको होता था। जिस दिन मैं नौकरी पर जा रहा था, मां रो रही थीं। इसलिए मैं शीघ्रातिशीघ्र घर छोड़ कर निकल जाने को तत्पर था। जमुना-पुल पर डूबी हुई सांझ में नदी पर से भारी मन गुजरते हुए सबसे ज्यादा मां और अमरूद के पेड़ की ही याद आई। मां की याद इसलिए, क्योंकि वह दुर्बल हैं और हम लोगों को न समझ पाकर क्रमश: जड़ होती जा रही हैं और अमरूद की याद इसलिए कि उसके माध्यम से मैं अपने अंदर एक जागृति

का भान करता रहा। अमरूद का पेड़ मुझमें प्रतीकों का निर्माण किया करता और फिर एक नए संसार की कल्पना में मैं निमग्न हो जाता। इस ट्रेन यात्रा में और अनेक बार मैं इस नए संसार में डूब कर शक्ति और आत्मसंतुष्टि पाता रहा हूं।

अमरूद के पेड़ के प्रति समर्थन और राग मेरे मन में यूं भी एकत्र हो आया, क्योंकि बाद में कई लोगों ने घर के सामने अमरूद होने को अशुभ बताया और पेड़ को तुरंत कटवा देने की सलाह दी। मां पर छा जाने वाला स्वाभाविक भय हमें नागवार गुजरता, क्योंकि ऐसा लगता, जैसे मां हम लोगों के अंदर पैदा होने वाले नए और बलिष्ठ खयालों के प्रति असहयोग कर रही हैं। जब-जब अशुभ के ठेकेदारों ने अमरूद की बाबत कुछ कहा, घर के हम सब बच्चे क्षुब्ध हो उठते थे। वस्तुतः यह गुण हमें हमारे बुजुर्गों से ही मिला था। इस निर्णय पर हम लोग तब पहुंचे जब एक समाजशास्त्रीय बोध हमें स्पर्श करने लगा था।

जीवन नए अनुभवों में गुजरने के मध्य व्यतीत होता रहा। मिद्दू ने राखाल के साथ कुछ अमरूद भिजवाए थे और खत लिखा था कि—'इस बरस जबकि अमरूद भरपूर आया है, कोई घर पर नहीं है।'—तथा नम कर देने वाली जज्बाती बातचीत के कई नाजुक टुकड़े। पिताजी की चिट्ठियां हमेशा ही कुछ दूसरे प्रकार की रही हैं। उनमें एहसास की चादर ओढ़ने का प्रयत्न या दबाव रहता है। मैं देखता हूं कि थोड़े समय में ही दुनिया में बहुत परिवर्तन हो गया है और यह परिवर्तन तेजी से दूसरे परिवर्तन की भूमिका बनता जा रहा है। बड़े-बड़े घातक शरीर-दुख मामूली और अचिंतनीय हो गए हैं और पिताजी लिखते हैं कि—'मां के बाएं फेफड़े में जो धब्बा था, वह पुनः उभर आया है, यह सब किसी अशुभ ग्रह-नक्षत्र का दुष्परिणाम है। शायद हम लोगों के बुरे दिन आ गए हैं।'—लेकिन, मैं जानता हूं कि अब यक्ष्मा बहुत आसान है और कहानियों में भी पात्रों का यक्ष्मा से ग्रसित होना, लोगों को द्रवीभूत नहीं कर पाता। अच्छे संपादक ऐसी कहानियों से ऊब गए हैं और उन्हें लौटाना ही श्रेयस्कर समझते हैं। फिर मृत्यु भी आज इतनी असह्य नहीं रह गई है। दुख, शरीर से मन पर सिमट आया है। पिताजी ने एक बार यह भी लिखा कि—'सबसे बड़े भाई चूल्हा-चौका अलग करने के लिए एक तनाव पैदा कर रहे हैं। बड़ी चखचख है। बहू ताजी रोटियां तो खुद खा जाती हैं और बासी हम लोगों के लिए रख देती हैं। तुम क्या जानो, हम लोगों का जीना मुहाल हो गया है। इधर तुम्हारी मां अमरूद का पेड़ काटने को कहती हैं। सब लोग उसे अशुभ बता रहे हैं'—आदि-आदि। यह एक दुखद प्रसंग था। हालांकि मैंने अमरूद न काटने की अपनी बात पर ही जोर देने वाली एक चिट्ठी मां को लिख दी थी।

राखाल हमारे पेड़ के जो अमरूद लाया था, वे बाजारू अमरूदों की सुंदरता से बहुत भिन्न होकर भी स्वादिष्ट थे। अमरूदों के और दोस्तों के बीच अच्छा समय गुजारते हुए मैं किंचित भावुक हो गया। मुझे वे दिन याद आने लगे जब हम छोटे-छोटे थे और सुबह, दिन-दोपहरी दूसरे बंगलों की चहारदीवारियां कूद कर अमरूदों को तोड़ा करते और पकड़े जाने पर बुरी तरह गिड़गिड़ाया करते। आज हमारे घर में भी अमरूद का पेड़ है, तो एक अजीब-सा गौरव होता है—यह कि जिनके घर अमरूद नहीं होंगे, वे बच्चे ईर्ष्यालु हो गए होंगे, हमारी चहारदीवारी कूदते होंगे। अमरूद के इस पेड़ की वजह रफ्ता-रफ्ता पप्पू के बहुत-से नन्हे-मुन्ने दोस्त हो गए हैं, ऐसा अम्मा ने लिखा था और भौजाई से उसे इस बात की बहुत डांट पड़ती है कि वह क्यों अपनी तबीयत का राजा हो गया है, जिसे चाहे अमरूद लुटाया करता है!

अपने इस अमरूद के पेड़ के संबंध में कभी-कभार फैशनेबुल ढंग से भी मैं सोचा किया हूं। होटलों के लॉन में बैठने वालों को सुखद छांह देते हुए, रंगीन छातों की छाया मेरी आंखों में अक्सर उभरी है। हमारा अमरूद का पेड़ एक हरा छाता है। एक डंगरा-सा फलता-फूलता पेड़ जिसमें अनुपातहीन डालें नहीं, बल्कि एक संवरापन है।

जब घर जाने को पहली छुट्टी मिली तो मन बेहद आतुर हो गया। सुख तन-मन पर एक वहशत की तरह सवार था। फिर अंधेरे जमुना-ब्रिज से गुजरती हुई गाड़ी ने उत्तेजित कर दिया और रात के सन्नाटे में एक अभूतपूर्व रोमांच के साथ मैंने अपने प्यारे शहर को देखा। वह रात उजाले की प्रतीक्षा में उड़ी हुई नींद की एक सुखद, पर बेचैन रात थी। पता नहीं, एक अजीब भयानक-सी विराटता के खयाल मन पर छोटे-छोटे टुकड़ों में बनते-बिगड़ते रहे। जैसे नगर इलाहाबाद की आत्मा में बहुत क्रांति है। अपने-आप लोग काम कर रहे हैं, बुद्धियां किसी नए रचनात्मक परिवेश के लिए सक्रिय हैं। स्थूल के नाम पर यह शहर जैसे परम शून्य है। लेकिन, धंसने पर··· । शायद मैं बहुत व्याकुल था।

शेष पृष्ठ 52 पर

मुकेश व्यास की कविताएं

•

बदलती हैं तारीखें
महीने भी बदल जाते हैं
बदलते-बदलते महीनों के
साल बदल जाते हैं
पर
क्यों
बदली हैं
निगाहें हर तरफ आज
शक और बदनीयत से बीमार
मेरा ये समाज
जीने के अब और
कौन-से गुर सीखूं
किसको छोड़ूं
किसको भूलूं
किस की करूं रियाज
कभी दिखते
पुतले यहां इनसान के
कभी लगते
नर पिशाच
अविश्वास ओढ़े और बिछाए
तुम मुझ में, और
मैं तुम में
ढूंढ़ रहा
इनसान की आवाज।

•

कौन, किस के
दुख में रोता है
सभी का दुख
अपना-अपना
होता है।

•

घोषित नहीं हुए हैं
अभी, अपने पाप
जी करता है
मर जाएं
चुपचाप।

•

बनाए
कितने-कितने सच
तुमने अपने आस-पास
मिला कर
उन सभी को
नहीं है
कोई सच
तुम्हारे पास
सच, सच का यह भी कोई रूप नहीं।

•

कितना ही
चुपचाप हटे
कोई पत्ता हरा शाख से
सुन ही लेते हैं
सुनने वाले
हटने की अनुगूंज
बनती है.
या कि बिगड़ती है
फिर, फिर से किसी की साख।

•

मैं
कह, नहीं पाता
वह
सुन, नहीं पाता
गूंगे, बहरे नहीं
हम दोनों।

•

दुख, तो
सभी का
अपना-अपना
न बंटे
तो, कई गुना
बंट गया,
तो फिर, अपना-अपना।

•

एक के कहने से
दूसरे के संबंध
तीसरे से
प्रभावित हो गए।

❖❖

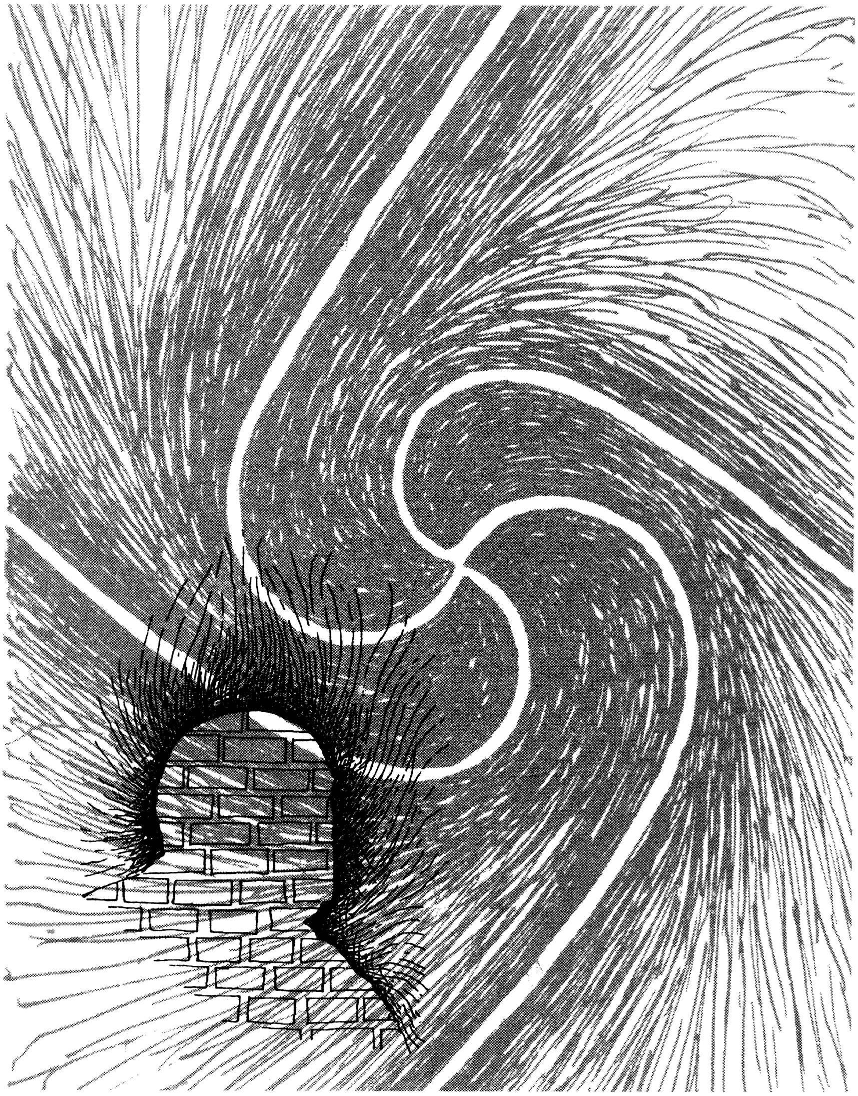

शीलन

शिक्षा में परिवर्तन करना होगा। आज की शिक्षा-व्यवस्था अचानक एक दिन में नहीं टूटेगी, यह और कुछ दिन चलेगी। लेकिन, इसी के साथ नई शिक्षा-व्यवस्था की बुनियादें डालनी होंगी। आज की शिक्षा पद्धति से शिक्षित ग्रामीण अपना गांव छोड़ कर नगरों की ओर भागता है, उसी तरह नगरों के युवकों को महानगर आकर्षित करते हैं और महानगरों के मेधावी छात्र पश्चिमी देशों में जाकर बसते हैं। शहरों की ओर आकर्षित होने वाले इस बुद्धि-पलायन की व्यवस्था को क्या शिक्षा कहा जाएगा? इसका परिणाम यह हुआ है कि शिक्षितों ने समाज-निर्माण के लिए नेतृत्व करने की अपनी जिम्मेदारी छोड़ दी है। अगर शिक्षा का अर्थ नए समाज-निर्माण करने की इस जिम्मेदारी का वहन करने की योग्यता हासिल करना हो, तो इस जिम्मेदारी का त्याग कर अलग ढंग की नई शिक्षा-व्यवस्था बनानी होगी। अत: नई समाज-व्यवस्था के उद्देश्यों के अनुरूप अनुसंधान और शिक्षा में परिवर्तन लाना होगा।

—प्रो. अम्लान दत्त

उच्च ध्येय के लिए आगे बढ़िए

कोई भी मनुष्य शारीरिक शक्ति की दृष्टि से दूसरे से बड़ा नहीं हो सकता, बल्कि वह अपने दिमाग तथा हृदय की गुणवत्ता में अधिक वरिष्ठ होने के कारण बड़ा हो सकता है। महिला का परमाधिकार क्या है? निःसंदेह उसका मातृत्व! निःसंदेह उसका मातृत्व ही उसकी पराकाष्ठा है। परंतु मातृत्व से हमारा अभिप्राय केवल यह है कि ऐसा मातृत्व जो उसकी स्वयं की इच्छा पर निर्भर हो, जोर-जबर्दस्ती से प्रदान किया गया मातृत्व न हो। मेरी प्यारी नवयुवती बहिनो! सौभाग्य और यहां तक कि मातृत्व के लिए निस्सहाय आकांक्षा रखना छोड़ दो। महिला के जीवन में उसका एकमात्र परितोष केवल विवाह तथा मातृत्व नहीं होना चाहिए। जीवन तो एक बहुआयामी-बहुरंगी वस्तु है। उठो, और अपने-आप को समर्थ बनाओ, सबसे मिल कर चलो और सभी की सेवा करो। अपने जीवन और शरीर पर नियंत्रण रखो। अपने उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आगे बढ़ो, जो कि अधिक महान और उच्च है।

❑

इला र. भट्ट

❑ ❑

अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस
❑ 8 मार्च ❑
विशेष

आप वास्तव में सौभाग्यशाली हैं, क्योंकि आप उन बहुत थोड़े से भाग्यशाली लोगों में से हैं, जिन्हें दिल्ली विश्वविद्यालय जैसे विशिष्ट संस्थान में विद्याध्ययन करने का अवसर मिला है। आप अभी युवा हैं, आपका तरोताजा दिमाग बाहरी प्रभाव के लिए खुला हुआ है और दूर तक फैला हुआ भविष्य आपका इंतजार कर रहा है। दोस्तो! इस मौके पर मैं यह कहना चाहती हूं कि विश्वविद्यालय से बाहर का संसार बहुत ही रोचक, उत्तेजनापूर्ण और चुनौतियों से भरा हुआ है। आपको अपने ज्ञान की जांच करने के, या जो-कुछ आपने अपनी कक्षाओं और प्रयोगशालाओं में सीखा है, उसका प्रयोग करने के अनेक अवसर मिलेंगे ताकि आप अपने ज्ञान को आगे बढ़ा सकें। मेरे नौजवान दोस्तो! संसार का सामना करने में डरना नहीं। हमारा यह राष्ट्र, जिसकी सेवा करने आप जा रहे हैं, वह भी आपकी तरह नौजवान और होनहार है तथा आपको नए क्षेत्रों को ढूंढ़ने और नई खोजों को करने के अद्वितीय अवसर प्रदान करेगा।

अब आप चूंकि शिक्षितों की श्रेणी में आ गए हैं, इसलिए आप शासकों, कार्यान्वयन करने वालों, प्रशासकों, नीति-निर्धारकों, व्यावसायिकों, योजना-निर्माताओं तथा अन्य लोगों के बारे में फैसला लेने वालों जैसी विभिन्न स्थितियों में अपनी भूमिका निभाएंगे। बहुत सारे 'अन्य लोग', प्रायः वे भाई-बहिन हैं, जो असुविधाग्रस्त हैं और जिन्हें आपकी तरह शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है। अभी आप हमारे समाज की मध्यम श्रेणी में गिने जाएंगे। कुछ समय बाद आप विशिष्ट दर्जे में गिने जाएंगे, यानी बुद्धिजीवियों में। सामंतवादी समाज को लोकतांत्रिक समाज में बदलने की भूमिका मध्यम श्रेणी को, निभानी है। परंतु आज मध्यम श्रेणी ऐसा करने में बहुत हद तक असफल रही है। वह आत्मकेंद्रित और स्वार्थी हो गई है। मैं आशा

करती हूं कि आप उससे भिन्न सिद्ध होंगे। मुझे आशा है कि आप लोकतांत्रिक समाज के मूल्यों को बनाए रखने में असफल नहीं होंगे। यही वह कार्य है जो आपका इंतजार कर रहा है।

आज तक आप सब-कुछ को समाहित करने वाले शब्द 'विकास' से परिचित हो गए होंगे। विकास शब्द ने सार्वभौमिक पद का रूप ले लिया है। इसका प्रयोग राष्ट्र को विकसित, विकासशील तथा अल्प विकसित दर्जा देने के लिए किया जाता है। ये मुख्यत: आर्थिक संकेतक है। विकसित देशों का आर्थिक स्तर ऊंचा होता है, इसलिए उन्हें विकसित माना जाता है। इस प्रकार के श्रेणी-निर्धारण के पीछे मंशा यह है कि विकसित देश जिस अवस्था में हैं, वही अवस्था अन्य देशों को प्राप्त करने की आकांक्षा रखनी चाहिए।

साथ ही साथ गरीबी, असमान वितरण तथा धनाढ्यों और गरीबों के बीच अंतर की समस्या से भी हमें निबटना है। यह माना जाता है कि गरीबी तथा रहन-सहन के स्तरों की समस्याओं को, 'विकसित' देशों द्वारा अपनाए गए मार्गों का अनुसरण करके, सुलझाया जा सकता है। प्रश्न उठता है कि विकास से हमारा क्या अभिप्राय है? मूलत: यही कि व्यापक मशीनीकरण और औद्योगीकरण, वस्तुओं के उत्पादन और सेवाओं के उच्च स्तर, सामानों की बहुतायत, समस्त कार्यों को नियोक्ता-कर्मचारी संबंध में बदलना, प्राकृतिक संसाधनों का बड़े पैमाने पर उपयोग, फुरसत के समय में वृद्धि, लोगों का बड़ी तादाद में आना-जाना, तीव्र गति से संचार और ऐसे वातावरण का निर्माण करना जहां केवल मानसिक और बौद्धिक कौशल ही अधिकाधिक मूल्यवान हों।

आर्थिक वृद्धि औद्योगीकरण द्वारा ही संभव होती है और इसलिए आधुनिकीकरण तथा 'प्रगति' औद्योगीकरण के समकक्ष माने जाते हैं। इससे विकास को मापना सीमित हो गया है और किसी न किसी प्रकार स्वयं लोगों का अवमूल्यन हो गया है। और यही वे लोग हैं जो विकास के वास्तविक केंद्रबिंदु हैं। विकास के मायने हैं लोगों का विकास, लोगों की क्षमताओं और मनोबल का विकास, लोगों की भागीदारी और आत्म-निर्भरता का विकास और लोगों की समानता का विकास। कोई भी राष्ट्र तब तक विकास नहीं कर सकता, जब तक उसके लोगों का विकास न हो।

मेरी समझ में नहीं आता कि जिस देश के लोगों ने ताजमहल बनाया, पद्मनाभ अथवा राणकपुर के मंदिर बनाए, उसे पिछड़ा देश क्यों कहा जाता है ? कच्छ की अद्वितीय किस्म की कसीदाकारी की पैरिस के वस्त्रालयों में भारी मांग है, बिहार की महिलाओं की मधुबनी चित्रकारी अंतरराष्ट्रीय बाजारों में खूब बिकती है, तो कोई कैसे यह कहने का साहस कर लेता है कि वे पिछड़े हुए लोग हैं? हां, यह ठीक है कि ये गरीब हैं और निरक्षर हैं, परंतु गरीबी और निरक्षरता अनिवार्यत: पिछड़ापन नहीं है। हमारे देश के ये प्रतिभासंपन्न लोग गरीब क्यों हैं? यही प्रश्न है, जिसका उत्तर, मित्रो, आपको ढूंढ़ना है।

आपने जो-कुछ सीखा है उसका उद्देश्य यह पता लगाने के लिए करना होगा कि अधिक से अधिक लोगों को ऐसे अवसर कैसे उपलब्ध कराए जाएं, जिससे वे व्यक्तिगत विकास और उन्नति के योग्य बन सकें। हमें प्रगति और विकास के अपने ही विकल्प उत्पन्न करने होंगे। हमें पिछड़ेपन की फिर से परिभाषा देनी होगी, अच्छी तरह से यह समझते हुए कि हम प्रगति और आधुनिकीकरण की बात करते हैं, तो हम क्या चाहते हैं ? यह ठीक है कि हम प्रगति करना चाहते हैं, औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण चाहते हैं, परंतु यह सब

8 मार्च—अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस के अवसर पर *जैन भारती* के पाठकों के लिए प्रस्तुत यह आलेख अप्रैल 1989 में दिल्ली विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में दिए गए भाषण का किंचित संपादित रूप है। यह भाषण इला र. भट्ट ने दिया था, जो बुनियादी विकास और व्यावहारिक चिंतन के लिए संसार की विरल महिलाओं में से मानी जाती हैं। गरीब और दमित स्त्री-समाज के जीवन को बेहतर बनाने में लगातार कार्यशील इलाजी 'मृदु क्रांतिकारी' के रूप में भी पहचानी जाती हैं। 'स्वाश्रयी महिला सेवा संघ' (सेवा—1972) की संस्थापक इला बेन राज्यसभा (संसद) की सदस्य भी रहीं और योजना आयोग की भी। 'वीमंस वर्ल्ड बैंकिंग', घरखाता कामगार संघ, 'होम नेट', 'वीमन इन इनफॉर्मल एम्प्लायमेंट', आदि संगठनों से जुड़ी रहीं इला र. भट्ट कोई एक दशक तक 'रॉकफेलर फाउंडेशन' की 'ट्रस्टी' भी रहीं। एक तरफ 'रेमन मैग्सेसे' व 'राइट लाइवलीहुड' पुरस्कारों से आप सम्मानित हुईं तो भारत सरकार ने भी आपको पद्मश्री (1985) और पद्मभूषण (1986) से सम्मानित किया। इला बेन राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय स्तर के कोई नौ विश्वविद्यालयों से मानद 'डाक्टरेट' की उपाधियों से भी विभूषित हो चुकी हैं। •

हमारे अपने ही तरीके से, हमारे भारतीय तरीके से और हमारी अपनी गतिशीलता तथा प्राथमिकताओं के आधार पर होना चाहिए।

इसके लिए हमें अपनी सांस्कृतिक संस्थाओं को जानना होगा, कार्य-संस्कृति और हमारे लोगों की पहचान पर नई तकनीकों के विस्थापक प्रभावों को समझना होगा। हमें अपने काम करने के तरीकों को समझना होगा, जो प्रायः स्वरोजगार से संबद्ध हैं। साथ ही हमें उन शक्तियों की पहचान करनी होगी जो थोड़े से लोगों के हाथों में संसाधनों के संकेंद्रण को बढ़ावा देती हैं और विकेंद्रित परंपरागत पद्धतियों को नष्ट कर देती हैं। क्या हम अपने पारिस्थितिक तंत्र, अपने मूल्यों, अपनी पहचान को क्षति पहुंचाए बगैर गरीबी से उबर सकते हैं? हमें चाहिए कि हम स्वयं अपने तौर-तरीकों और मूल्य पद्धतियों को विकसित करें, न कि उन्हें 'पिछड़ा' कह कर उनका अवमूल्यन करें। हमें निरक्षरों और शिक्षितों के लिए ऐसे मंच विकसित करने होंगे, जिससे उनका शोषण न हो और मिल कर काम कर सकें। हमें 'स्वदेशी' पर गर्व करने की बात को फिर से फैलाना चाहिए। हमें उपभोग की वस्तुओं के यथोचित स्तरों को प्राप्त करने की अभिलाषा रखनी चाहिए, जो समस्त देशवासियों के लिए संभव की जा सकती है, न कि जरूरत से ज्यादा उपभोग करने वाले कुछ ही लोगों के लिए, जो अधिकांश लोगों की कीमत पर ऐसा कर पाते हैं। मेरे मित्रो, आप नौजवान हैं, आपको विकास की दिशाओं को अनुकूल ढंग से मोड़ देना होगा, यहां तक कि तथाकथित विकसित देशों के लिए भी आपको यही करना होगा।

हो सकता है कि आपके चारों ओर का वातावरण आपके प्रतिकूल हो। कितना भी प्रतिकूल क्यों न हो, इससे फर्क नहीं पड़ता। आपको तो इसी बात पर जोर देना चाहिए कि विकास लोगों का होना चाहिए, न कि वस्तुओं का। विकास का उद्देश्य न तो उत्पादकता हो और न ही उपभोक्तावाद, वरन इसका लक्ष्य आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होना चाहिए, जो किसी वस्तु को पाने से ही संबंधित न होकर उनके होने से संबंधित हो। आप इस बात से कभी इनकार नहीं करेंगे कि रोटी-कपड़ा मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता है, जिसकी पूर्ति पर्याप्त आमदनी, पोषण, घर तथा सभी के लिए काम उपलब्ध करा कर की जानी चाहिए। परंतु, आप इस बात पर भी बल देंगे कि संरक्षण, स्नेह, सहानुभूति, भागीदारी, फुरसत, सृजन, पहचान और स्वाधीनता भी मनुष्य की अत्यधिक मूलभूत आवश्यकताएं हैं।

दोस्तो! हमारी संस्कृति आरण्यक संस्कृति है। ज्ञान को ही 'आरण्यक' कहा जाता है। जीवन का बोध ही सफल रूप में 'सर्वभूतहितेरताः' होता है। परंतु हमारे प्राकृतिक संसाधनों पर कुठाराघात ने हमारे पारितंत्र को नष्ट कर दिया है। हमें यह अच्छी तरह से समझ लेना चाहिए कि हमारे पारितंत्र को बनाए रखे बिना बुद्धिसंगत और न्यायोचित विकास नहीं हो सकता। मनुष्य की परिस्थितियों और वातावरण में घनिष्ठ संबंध होता है। गांवों में रहने वाले गरीब और खासतौर से ग्रामीण महिलाएं इसे अच्छी तरह जानती हैं। उदाहरण के लिए जूनागढ़ के निकट गिरनार के जंगलों में लकड़ी इकट्ठा करने वाली महिलाएं अक्सर हमसे कहती हैं, गिरनार हरा-भरा है, इसलिए हमारा जीवन भी हरा-भरा है। वे अन्य किसी के मुकाबले उनके और जंगलों के बीच सह-संबंध को अच्छी तरह महसूस कर सकती हैं।

बेकार पदार्थ और प्रदूषण देश के दीर्घकालिक भरण-पोषण संबंधी विकास के आधार को ही नष्ट कर देते हैं। जो जमीन आज क्षय हो रही है, वह भावी प्रगतिशील जीवन को सहारा नहीं दे सकती। हमारे जल-संसाधन—जिन्हें शीघ्र लाभ अर्जित करने के उद्देश्य से विषाक्त अथवा दूषित कर दिया जाता है, आसानी से उपयोग में नहीं लिए जा सकते, ताकि वे हमें सतत लाभ प्रदान कर सकें। परंतु, प्रकृति की इस देन और अन्य देनों का उपयोग भी किया जा सकता है, उनकी बचत करके उन्हें बढ़ाया भी जा सकता है। उस संतुलन को लाने और बनाए रखने के लिए दृष्टि, ज्ञान और जनमानस तथा सरकार, दोनों ही शक्तियों के समन्वित रूप से इस्तेमाल की जरूरत होती है। मित्रो! आपके सम्मुख यही सबसे महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य कार्य है, यदि इसे नहीं किया गया तो संपूर्ण देश एक विशाल मरुभूमि में बदल जाएगा।

हम किस प्रकार अपने वातावरण को हरा-भरा बनाने के लिए जन-संसाधन का इस्तेमाल कर सकते हैं? क्या विकास कोई रोग है, जिसका लोगों को कष्ट उठाना ही पड़ेगा, अथवा क्या वह उस कष्ट से उबरने की प्रक्रिया है? आपने सामाजिक तथा भौतिक विज्ञान की पढ़ाई की है, जो कि जनमानस को सबल बनाएगा और उन्हें विकल्प, सुरक्षा तथा न्याय प्रदान करेगा।

मानव संसाधनों की बात करते समय आपका ध्यान खासतौर से महिला संसाधन की ओर आकृष्ट करना

चाहती हूं, जिसकी ओर इस समय ध्यान नहीं दिया जा रहा है। हमारी महिलाओं की आबादी का बहुत बड़ा हिस्सा ग्रामीण है, जो आर्थिक दृष्टि से बहुत सक्रिय है परंतु, गरीब और निरक्षर है। पिछले वर्ष जब मैंने स्व-रोजगार करने वाली महिलाओं पर राष्ट्रीय आयोग के अध्यक्ष के रूप में देश के अठारह राज्यों का दौरा किया, सार्वजनिक रूप से उनकी सुनवाइयां की और गरीब महिलाओं से उनकी परिस्थितियों के बारे में प्रमाण इकट्ठा किए। हम खेतों, फैक्टरियों, खदानों, अपने घरों अथवा पहाड़ों, सड़कों, समुद्र के किनारों और कस्बों के बाजारों में काम करने वाली महिलाओं से मिले और उनकी बातें सुनीं। हमने क्या देखा ? हमने देखा कि महिलाओं में काम ढूंढ़ने की रुचि बढ़ती जा रही है और श्रम बाजार में उन्हें अत्यधिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। उनकी उच्च जनन क्षमता उनके आने-जाने में बाधा उत्पन्न करती है। उनमें ऐसे कौशलों की कमी है, जिन्हें वे अंतरित कर सकती हैं, उन्हें बाजारों और तकनीक की जानकारी नहीं है और आवश्यक परिसंपत्तियां, पूंजी तथा औजार भी उनकी पहुंच से बाहर हैं।

उनकी इस अति संवेदनशीलता के साथ जुड़ा हुआ है यह तथ्य कि समय बीतने के साथ-साथ पारंपरिक सहायक तंत्र टूटते जा रहे हैं। अधिकाधिक परिवार अब संपत्तिहीन होते जा रहे हैं, जिसका अर्थ यह है कि न केवल आर्थिक क्रियाकलापों में महिलाओं का योगदान अधिक कठिन हो गया है, वरन पारिवारिक इकाई ही स्वयं अस्थिर हो गई है। परिणामस्वरूप अब 'महिला प्रमुख' परिवार अधिक हो गए हैं। जंगल तथा अन्य उपभोग की वस्तुओं के मुक्त स्रोतों और कच्चे माल की बहुत कमी हो गई है। महिलाओं की कम उत्पादकता, उनके अपरिष्कृत कौशलों को विस्तारशील व्यापार के दौरान अधिकाधिक प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। हमारे देश में ऐसे ही महिला वर्ग की विशाल संख्या है, जो संख्या में तो आधे से अधिक हैं, फिर भी वह अलक्षित कार्यकारी बल के रूप में ही विद्यमान है।

इन महिलाओं से बातचीत करने के बाद हमने यह भी महसूस किया कि उनके पुरुषों की अपेक्षा ये महिलाएं गरीबी से अधिक लड़ सकती हैं। उनमें अपने वातावरण से मुकाबला करने के लिए अधिक परिकल्पनात्मक, सुस्थिर तथा भविष्यवादी कार्य-पद्धतियां देखी जा रही हैं। प्रकृति के प्रकोप से, दुर्भिक्षों और बाढ़ों से लड़ने के लिए उनका साहस वीरोचित है। देश में हर स्थान पर हमने पाया कि वे हमारे भविष्य की सबसे अधिक प्रतिबद्ध समर्थक हैं। इसलिए मैं आपसे यह कहना चाहूंगी कि इस देश का भविष्य भारत की ग्रामीण महिलाओं के हाथ में है। यह कोई वाक्पटुता की बात नहीं है, बल्कि यह एक तथ्य है, जिसे मैं अपनी जानकारी और आत्मविश्वास के साथ-साथ और इस दृढ़ आशा के साथ कह सकती हूं कि आप इस देश के भाग्य का निर्माण करते समय सदैव इन महिलाओं को पूरा सम्मान देंगे।

नए भारत का भाग्य निर्माण करते समय आप परस्पर सहकर्मियों के रूप में मिल कर काम करेंगे, अर्थात् जीवन में तथा अपने कार्यों में भागीदार के रूप में। इस प्रसंग में मैं पुरुष-महिला सह-संबंधों पर कुछ कहना चाहूंगी। पुरुष और महिला एक ही छत के नीचे रहते हैं। देखने में ये एक साथ रहते प्रतीत होते हैं परंतु, वास्तविकता यह है कि सही मायनों में उनमें मैत्री अथवा भाईचारा नहीं होता। एक बार की बात है, एक पिता अपने बच्चे को इस आश्वासन के साथ एक चिड़ियाघर में ले गए कि वे मेमने को शेर के साथ सोते हुए दिखाएंगे। परंतु बच्चे ने पिंजरे में केवल एक ही शेर देखा। पिता ने समझाया कि मेमना शेर के पेट में है। इसी प्रकार का सह-संबंध हम अपने घरों में देखते हैं। शेर और मेमने के इस तरह साथ-साथ रहने में कोई नैतिकता नहीं होती।

इसलिए मैं पूरी गंभीरता के साथ यहां मौजूद हर छात्रा से अपील करना चाहती हूं कि आप अपनी वैयक्तिकता का निर्माण करें। आप जिस पुरुष को पसंद करें, उसके साथ रहें, हृदय और मन से उसे प्यार करें और जब भी आवश्यकता हो तो बलिदान दें, परंतु, किसी भी हालत में अपना जीवन पूरी तरह उसी के ऊपर निर्भर न होने दें। अभी तक शिक्षा, लड़कियों को अपनी दयनीय लाचार स्थिति में पुरुष पर निर्भर रहने से उबार नहीं पाई है। ऐसी स्थिति में आपकी शिक्षा और आपकी नागरिकता केवल आभूषण मात्र है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि महिला को अपनी सुरक्षा और मर्यादा की रक्षा के लिए पुरुष पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। महिला स्वयं की रक्षा कर सकती है। पुरुष को महिला की इस बात में मदद करनी चाहिए कि वह उससे डरे नहीं। पुरुष भेड़िया तो है नहीं और महिलाएं उसकी प्रलोभक नहीं हैं। आपको मिल कर एक ऐसे समाज का निर्माण करना होगा, जहां समाज में दोनों ही सुरक्षा तथा स्वाधीनता का आनंद ले सकें और एक-दूसरे का अनुचित लाभ उठाए बिना साथ-साथ

रह सकें। पुरुष-महिला सह-संबंध का आधार आपसी भरोसे और प्रेम का होना चाहिए, न कि डर और लाचारी का। एक महिला को संरक्षण की आवश्यकता होती है, क्योंकि शारीरिक बल को कभी भी वह मनुष्य की नियति का अंतिम निर्णायक नहीं मानती। कोई भी मनुष्य शारीरिक शक्ति की दृष्टि से दूसरे से बड़ा नहीं हो सकता, बल्कि वह अपने दिमाग तथा हृदय की गुणवत्ता में अधिक वरिष्ठ होने के कारण बड़ा हो सकता है। महिला का परमाधिकार क्या है? निःसंदेह उसका मातृत्व! निःसंदेह उसका मातृत्व ही उसकी पराकाष्ठा है। परंतु मातृत्व से हमारा अभिप्राय केवल यह है कि ऐसा मातृत्व जो उसकी स्वयं की इच्छा पर निर्भर हो, जोर-जबर्दस्ती से प्रदान किया गया मातृत्व न हो। मेरी प्यारी नवयुवती बहिनो ! सौभाग्य और यहां तक कि मातृत्व के लिए निस्सहाय आकांक्षा रखना छोड़ दो। महिला के जीवन में उसका एकमात्र परितोष केवल विवाह तथा मातृत्व नहीं होना चाहिए। जीवन तो एक बहुआयामी-बहुरंगी वस्तु है। उठो, और अपने-आप को समर्थ बनाओ, सबसे मिल कर चलो और सभी की सेवा करो। अपने जीवन और शरीर पर नियंत्रण रखो। अपने उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए आगे बढ़ो, जो कि अधिक महान और उच्च है।

हमने देखा कि समस्त क्रांतियों में पुरुष वर्ग की मौजूदगी में क्रांतिकारी लड़कियां कभी अधीर नहीं हुईं और न ही क्रांतिकारी लड़कों ने ही महिला वर्ग को कामुकता की वस्तु की नजर से देखा। क्रांतियों के दौरान उन्होंने सहयोगी के रूप में कार्य किया। मानव सह-संबंधों की यही वह किस्म है जिसका सृजन आप करेंगे जब आप मिल-जुल कर अपने भारत का, लोकतंत्रात्मक मातृभूमि का शांतिपूर्ण ढंग से निर्माण करेंगे। ❖

होली : आध्यात्मिक तेवर पृष्ठ 38 का शेष

दौलत बाल खेलैं अस होरी, भवभव दुःख टलौरी।
शरना ले इक श्रजन को री, जग में लाज हो तोरी।
मिलैं फगुआ शिव होरी। मेरो मन.।।

कवि ने इसी प्रसंग में बड़े ही सुंदर ढंग से यह बताने का प्रयत्न किया है कि सम्यक्ज्ञानी जीव कर्मों की होली किस प्रकार खेलता है—

ज्ञानी ऐसी होली मचाई।।
राग कियो विपरीत विपन घर, कुमति कुसौति सुहाई।
धार दिगंबर कीन्ह सु संवर निज परभेद लखाई।
घात विषदिन की बचाई।। ज्ञानी ऐसी.।।
कुमति सखा भजि ध्यानभेद सम, तन में तान उडाई।
कुंभक ताल मृदंगसों पूरक रे चकबीन बजाई।
लगन अनुभव सौं लगाई।। ज्ञानी ऐसी.।।
कर्म बतीता रस नाम धरि वेद सुइंद्रि गनाई।
दे तप अग्नि भसम करि तिनको, धूल अघाति उड़ाई।
करी शिव तिय की तिताई। ज्ञानी ऐसी.।।
ज्ञान को फाग भाग वश आवै लाख करौ चतुराई।
सो गुरु दीनदयाल कृपा करि दौलत तोहि बताई।
नहीं चित्त से विसराई। ज्ञानी ऐसी.।।[16]

इस प्रकार हिंदी जैन साहित्य में होली की समूची प्रक्रिया को आध्यात्मिकता में ढाल कर कवियों ने उसे बड़े आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया है। वस्तुतः होली का रूप ही अशुभ भावों और कर्मों को दूर कर शुभ भावों और कर्मों की ओर जीव को प्रेरित करना है। जिसे जैन कवियों ने बखूबी पूरा किया है। ❖

संदर्भ :

1. बनारसीविलास, अध्यातम फाग 2-6, पृ. 154।
2. **गौ सुवर्ण दासी भवन गज तुरंगे परधान।**
   कुलकतत्र तिल भूमि रथ ये पुनीत दशदान।
   दसदान, पृ. 177।
3. बनारसीविलास, अध्यातम फाग, पृ. 155-156।
4. अक्षर ब्रह्म खेल अति नीको खेतल ही हुलसावै
   —हिंदी पद संग्रह, पृ. 92।
5. महावीरजी अतिशय क्षेत्र का एक प्राचीन गुटका, साइज 8-6, पृ. 160, हिंदी जैन भक्ति काव्य और कवि, पृ. 256।
6. हिंदी पद संग्रह, पृ. 119।
7. हिंदी पद संग्रह, पृ. 121।
8. हिंदी पद संग्रह, पृ. 149।
9. हिंदी पद संग्रह, पृ. 158।
10. हिंदी पद संग्रह, पृ. 177।
11. हिंदी पद संग्रह, पृ. 176।
12. **छार कषाय त्यागी या गहि लै समकित केसर घोरी।।**
    मिथ्या पत्थर डारि धारि लै, निज गुलाल की झोरी।।
    'बुधजनविलास', पृ.40।
13. 'बुधजनविलास', पृ. 49।
14. 'बुधजनविलास', पृ. 49।
15. दौलत जैन पद संग्रह, पृ. 26।
16. दौलत जैन पद संग्रह, पृ. 26। ❖❖

नई अर्थशास्त्रीय अवधारणा की तलाश

ऐकांतिक दृष्टिकोण आर्थिक समस्याओं को समाधान देने में सक्षम नहीं है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार हिंसा के कारणों को समझे बिना अहिंसा के सिद्धांत को समग्रता से नहीं समझा जा सकता। हिंसा का मुख्य कारण है—परिग्रह। जबकि आधुनिक अर्थशास्त्रीय अवधारणा ने हिंसा को प्रोत्साहन दिया है। वर्तमान में अर्थशास्त्रीय अभिमत है—अर्थ के प्रति राग उत्पन्न करो। जबकि महावीर कहते हैं—पदार्थ के प्रति विराग उत्पन्न करो। समाज के विकास का आधार है—रागात्मक प्रवृत्ति। इस सत्यांश को पूर्णसत्य मान लेने के कारण ही हिंसा और आतंक को फैलने का अवसर मिला है। समाज व्यवस्था में विरागात्मक प्रवृत्ति भी आवश्यक है। इस सत्यांश को समाज के साथ जोड़ने से एक नया दृष्टिकोण विकसित होता है। केवल रागात्मक प्रवृत्ति समाज को स्पर्धा और हिंसा की ओर ले जाती है। केवल विरागात्मक प्रवृत्ति से समाज की आवश्यकताएं पूर्ण नहीं होतीं, इसलिए रागात्मक और विरागात्मक, दोनों के संतुलन से ही समाज की व्यवस्था को नया रूप दिया जा सकता है और हिंसा की बाढ़ को रोका जा सकता है।

❑

मुनि अक्षयप्रकाश

❑ ❑

समाज व्यवस्था के अनेक आधारों में एक मुख्य आधार है—अर्थ। आवश्यकता पूर्ति के अनुरूप वह सबको मिले, इसलिए ऐसी अर्थव्यवस्था जरूरी है जिसमें सबको जीवन-निर्वाह के साधन सुलभ हो सकें, रोटी तो अनिवार्यतः सबको सुलभ हो ही।

हमारे अर्थशास्त्री यदि ऐसा प्रारूप प्रस्तुत न कर सकें, तो वह अर्थशास्त्र सिर्फ धनी वर्ग के लिए ही उपयोगी रह जाएगा, साधारण आदमी के लिए नहीं। अर्थशास्त्र को न हृदय-परिवर्तन के भरोसे छोड़ा जा सकता और न बल प्रयोग के। हिंसक साधनों से भी उसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। उसे बदलने का उपाय है—व्यवस्था का परिवर्तन। इसलिए व्यवस्था के प्रसंग पर गंभीर चिंतन होना चाहिए।

व्यवस्था की दो मुख्य प्रणालियां प्रचलन में हैं—पूंजीवाद और समाजवाद। दोनों का विकास भौतिकवाद के आधार पर हुआ है। आर्थिक प्रधानता के इस युग में अर्थ केंद्र पर है और मनुष्य उसकी परिधि में घूम रहा है, मतलब यह कि अर्थ ही प्रधान है। आधुनिक अर्थशास्त्र के प्रमुख पुरुष कीन्स कहते हैं—'हमें अपने लक्ष्य को प्राप्त करना है, सबको धनी बनना है। अभी यह समय नहीं है कि हम मूल्यों पर विचार करें। नैतिकता पर विचार करें।'

ठीक इसके विपरीत आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—धन में मूर्च्छित मनुष्य को धन त्राण नहीं देता। उनका कहना है—धन कुछ भी नहीं है, यह सचाई नहीं है। धन सब-कुछ है, यह भी सचाई नहीं है। लेकिन, एक

सामाजिक प्राणी की जीवनयात्रा के लिए धन की आवश्यकता को नकारा नहीं जा सकता।

वैज्ञानिक युग ने नई अवधारणाएं दी हैं। पुराने चिंतन को नकारने की मनोवृत्ति विकसित हुई है। परिस्थिति-चक्र ने भी विकास की अवधारणा को बदलने में सहयोग दिया है। वर्तमान अर्थशास्त्री इस भाषा में सोचते हैं—आज का विश्व इच्छा-नियंत्रण, संग्रह-नियंत्रण को अपनाकर विशाल आबादी को रोटी, कपड़ा और मकान नहीं दे सकता। इसलिए सीमाकरण का सिद्धांत पुराना हो चुका है। नई समस्या को सुलझाने के लिए आवश्यक हो गया है—नया चिंतन और नया सिद्धांत, उसी के आधार पर बड़े-बड़े कारखाने चल रहे हैं और आर्थिक विकास की बड़ी-बड़ी योजनाएं पन्नों पर उतर रही हैं।

आर्थिक विकास, प्रौद्योगिकी विकास, तकनीकी विकास, प्रति व्यक्ति आय और जीवनस्तर—ये आधुनिक अर्थशास्त्र के मानदंड हैं। 'महावीर का अर्थशास्त्र' में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं—इसने व्यक्ति को अर्थ-संपन्न तो बनाया है, किंतु सुखी कम बनाया है। सुविधा, शांति और सुख—यह त्रिपुटी है। आवश्यकताओं की पूर्ति हो, सुविधा मिले, मानसिक शांति और सुख भी मिले—ये तीनों हों, तो बात पूरी होती है। इन तीनों की उपलब्धि कराने वाला अर्थशास्त्र आज अपेक्षित है। ऐसा अर्थशास्त्र, जो दूसरे के हित को विखंडित न करे, जिससे अनेक सुविधाएं मिल जाएं, आवश्यकता की पूर्ति खूब हो जाए, किंतु मन की शांति भग्न हो जाए—वह अर्थशास्त्र पर्याप्त नहीं होता। सुख भी मिले, शांति भी मिले, सुविधा भी मिले तो एक परिपूर्ण बात बनती है और यह अनेकांत दृष्टिकोण से ही संभव है।

ऐकांतिक दृष्टिकोण आर्थिक समस्याओं को समाधान देने में सक्षम नहीं है। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार हिंसा के कारणों को समझे बिना अहिंसा के सिद्धांत को समग्रता से नहीं समझा जा सकता। हिंसा का मुख्य कारण है—परिग्रह। जबकि आधुनिक अर्थशास्त्रीय अवधारणा ने हिंसा को प्रोत्साहन दिया है। वर्तमान में अर्थशास्त्रीय अभिमत है—अर्थ के प्रति राग उत्पन्न करो। जबकि महावीर कहते हैं—पदार्थ के प्रति विराग उत्पन्न करो। समाज के विकास का आधार है—रागात्मक प्रवृत्ति। इस सत्यांश को पूर्णसत्य मान लेने के कारण ही हिंसा और आतंक को फैलने का अवसर मिला है। समाज व्यवस्था में विरागात्मक प्रवृत्ति भी आवश्यक है। इस सत्यांश को समाज के साथ जोड़ने से एक नया दृष्टिकोण विकसित होता है। केवल रागात्मक प्रवृत्ति समाज को स्पर्धा और हिंसा की ओर ले जाती है। केवल विरागात्मक प्रवृत्ति से समाज की आवश्यकताएं पूर्ण नहीं होतीं, इसलिए रागात्मक और विरागात्मक, दोनों के संतुलन से ही समाज की व्यवस्था को नया रूप दिया जा सकता है और हिंसा की बाढ़ को रोका जा सकता है।

वर्तमान समाज में जिस मनोवृत्ति के परिणाम दिखाई दे रहे हैं—भगवान महावीर ने आचारांग सूत्र में उसे इस प्रकार कहा है—

सुहट्ठी लालप्पमाणे सएण दुक्खेण मूढ़े विप्परियासमुवेति

आचारांग भाष्यम, 2/151

सुख का अर्थी संग्रह में प्रवृत्त होता है। जो सुख का अर्थी होता है, वह बार-बार सुख की कामना करता है। इस प्रकार वह अपने द्वारा कृत कामना की व्यथा से मूढ़ होकर विपर्यास को प्राप्त होता है। भगवान महावीर ने मनोवृत्ति और संग्रह के परिणामों को ध्यान में रख कर 'इच्छा परिमाण' का सिद्धांत दिया। सापेक्ष दृष्टिकोण के आधार पर आवश्यकता की पूर्ति का अर्थशास्त्र और शांति का अर्थशास्त्र—दोनों को एक-दूसरे का पूरक मानना होगा। आर्थिक संपन्नता के सपने देखने वाले मनुष्य को संयम, विसर्जन, त्याग, सीमाकरण—ये शब्द प्रिय नहीं हैं। उसके लिए भोग, विलासिता, सुविधा—इन शब्दों में सम्मोहक शक्ति है। लेकिन, सीमाकरण से अर्थशास्त्र के कुछ सिद्धांत फलित होते हैं।

इसीलिए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने भगवान महावीर द्वारा प्रदत्त कुछ विशेष सूत्रों को **सापेक्ष अर्थशास्त्र** के रूप में व्याख्यायित करके मानसिक तनाव, पर्यावरण की समस्या और विशेष रूप से अर्थशास्त्रीय समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया है।

वर्तमान अर्थव्यवस्था के सामने चार प्रश्न हैं—1. गरीबी को मिटाना। 2. जनसंख्या की वृद्धि को रोकना। 3. पर्यावरण में सुधार करना। 4. बेरोजगारी का उन्मूलन करना।

इसी प्रकार सापेक्ष अर्थशास्त्र के भी कुछ मानदंड हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार अर्थव्यवस्था से यह अपेक्षा है कि वह—विश्व शांति के लिए खतरा न बने।

अपराध में कमी लाए। हिंसा को प्रोत्साहन न दे। पदार्थ के प्रति अनासक्ति की अनुभूति जगाए, अत्राण की अनुभूति जगाए।

इसी के साथ विकास की प्रक्रिया को भी आचार्यश्री महाप्रज्ञजी बताते हैं। वे कहते हैं—1. समाज में आर्थिक विकास येन-केन-प्रकारेण नहीं होना चाहिए। उसके साधन शुद्ध होने चाहिए। 2. अर्थार्जन में मूल्यों का ह्रास नहीं होना चाहिए और इच्छा व व्यक्तिगत संग्रह का परिमाण होना चाहिए। 3. स्वार्थ एक बहुत बड़ी प्रेरणा है, लेकिन उसकी भी सीमा होनी चाहिए।

अर्थशास्त्र की दृष्टि में अर्थार्जन के तीन हेतु हैं— 1. अनिवार्य आवश्यकता अर्थात् ऐसी आवश्यकताएं जिनका उपभोग करने पर थोड़ा-सा सुख मिले और उपभोग न करने पर बहुत दुख। 2. सुविधा अर्थात् जिसके उपभोग करने पर कुछ अधिक सुख मिले, पर उपभोग न करने पर थोड़ा-सा दुख। 3. विलासिता अर्थात् जिसके उपभोग से बहुत सुख मिले और उपभोग न करने पर दुख न हो। इन तीनों पर सापेक्ष चिंतन आवश्यक है। इन बातों पर चिंतन करके सापेक्ष अर्थशास्त्र के दर्शन को निष्कर्ष रूप में इस प्रकार कह सकते हैं—

1. न भूख, न जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं का अभाव और न विलासिता का जीवन। 2. धन मनुष्य की आवश्यकता-पूर्ति का साधन है, साध्य नहीं। धन मनुष्य के लिए है, मनुष्य धन के लिए नहीं। 3. आवश्यकता की पूर्ति के लिए धन का अर्जन, पर उसके साथ प्रामाणिकता और नैतिकता के प्रति सजगता व ऐसे प्रयोग। 4. आवश्यकताओं, सुख-सुविधाओं और उनकी संतुष्टि के साधनभूत धन-संग्रह की सीमा का निर्धारण। 5. धन के प्रति उपयोगिता के दृष्टिकोण का निर्माण और संगृहीत धन में अनासक्ति का विकास। 6. धन के लिए 'संतुष्टि-गुण' का स्वीकार और आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से उसकी असारता का अनुचिंतन। 7. विसर्जन की क्षमता का विकास।

उपरोक्त बिंदुओं को ध्यान में रख कर यदि चिंतन किया जाए तो उसकी निष्पत्ति समाधानमूलक हो सकती है। अर्थशास्त्र के दर्शन को अब इस दृष्टि से गढ़ना होगा।❖

अमरूद का पेड़

पृष्ठ 41 का शेष

तड़के उठ कर मुझे इस बात का बड़ा खेद हुआ कि शायद हमारे प्रति घर के बड़ों में कोई स्वागत भाव नहीं है। ऐसी स्थितियों में मुझे बारंबार अवनींद्र बाबू का वह चित्र याद आ जाता है, जिसमें एक बूढ़े पेड़ की आत्मा अपने को तोड़ देने के प्रयत्न में सुखी है, क्योंकि उसे यह जानकारी है कि उसकी घेर में एक नवल तरु उग आया है। यह बात उतनी बुरी नहीं थी कि अमरूद के पेड़ को काट कर उसकी जगह एक ओर गुलदाउदी और दूसरी ओर केले की क्यारियां बना ली गई हैं, बल्कि चुनौती इस बात की थी कि हम लोगों में जब धीरे-धीरे जिंदगी की बुलंदी विकसित हो रही थी, तभी मां को रूढ़ि और अशुभ के मिथ्याभय ने पराजित कर दिया। शायद मां की हम संतानें उन्हें अशुभ से लड़ सकने की अपनी सामर्थ्य का आश्वासन नहीं दे सकी थीं। मैंने पाया कि वह भय, जो मां के चेहरे पर क्षणजीवी हुआ करता था, अब गहरा गया है। मां का मन यह मान बैठा था कि बड़ी बहू की अलगाव-भावना, सबसे छोटे का निठल्लापन, खुद उनकी बीमारी और लोगों का धंधे से बिखर जाना और कुछ नहीं है—बहुत दिनों तक दरवाजे पर उसी अमरूद के पेड़ के लगे रहने का दुष्परिणाम है, जिसे काफी पहले ही लोगों ने अशुभ बताया था।

कुछ देर बाद मैंने साधारण तौर पर अमरूद की बाबत मां से पूछा तो मिद्दू के गुस्से को सहारा मिला। उसकी कंडैल-सी आंखों में एक छोटा-सा तूफानी झोंका उठा, बैठ गया। उसका मुंह फूल गया था। मेरे लिए तसल्ली बस इतनी थी कि मुझे उसका क्षोभ अच्छा लगा, क्योंकि यह क्षोभ मौजूदा सामाजिक परिस्थितियों में निहायत जरूरी है और क्योंकि यह जीवन का परिष्कार करता है, बशर्ते इस क्षोभ का संस्कार हो और उसे स्वयं पोसा तथा सहा भी जा सके । अम्मा ने मेरे प्रश्न का अपने ढंग से ठीक ही जवाब दिया। शायद उन्हें भी दुख था—बहुत दुख, इसलिए कि हम दुखी थे। मिद्दू गुस्सा थी। इसलिए नहीं कि उनसे कोई गलत काम हुआ है।

सूरज पिछवाड़े के पीपल के ऊपर आ रहा था और जहां अमरूद की जड़ थी, वहां धूप का एक चकत्ता तेजी से बड़ा होता दीख पड़ा। ❖

पुरिसा : परमखक्खू विप्परकमेज्जा

शक्ति होना एक पहलू है और उसका सदुपयोग करना सर्वथा दूसरा। अल्प शक्तिवाला व्यक्ति निरंतर चलने पर मंजिल तक पहुंच जाता है और गति के अभाव में प्रबल शक्तिशाली भी ठिठक कर रुक जाता है। व्यक्ति अपने सामर्थ्य का आध्यात्मिक दृष्टि से सही उपयोग तब ही कर सकता है, जब वह आलस्य, प्रमाद और आसक्ति के चक्र से दूर होता है। इनमें फंसने पर व्यक्ति जीवन-दांव को हार जाता है। अंततः विफलता ही उसके हाथ लगती है। संकल्प अपने-आप में कभी छोटा व बड़ा नहीं होता। व्यक्ति का पुरुषार्थ ही उसे छोटा और बड़ा बनाता है। पुरुषार्थ की प्रबलता होने पर हजारों मील की दूरी भी अकिंचितकर हो जाती है। जबकि सुषुप्ति की स्थिति में व्यक्ति की गति एक कक्ष से दूसरे कक्ष में भी नहीं हो पाती।

❑

साध्वी निर्वाणश्री

❑ ❑

भाग्य और पुरुषार्थ—इन दो शब्दों पर समय-समय पर विमर्श होता रहा है। इस विमर्श को मुख्य रूप से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—1. ईश्वरवादी एवं 2. अनीश्वरवादी। ये दोनों धाराएं अलग-अलग कोणों का स्पर्श करने वाली हैं। ईश्वरवादी दार्शनिकों के अनुसार ईश्वर ही जगत और जीवन का मुख्य कारक है और उसकी इच्छा के बिना एक पत्ता भी इधर से उधर नहीं हो सकता। वह सर्वशक्तिमान ही अपने-अपने कर्मानुसार सबको शुभाशुभ फल देता है। व्यक्ति अपने आप में कुछ नहीं है। वह उसके हाथ का मात्र एक खिलौना भर है और ईश्वर उस खिलौने को अपनी इच्छानुसार संचालित करता है।

अनीश्वरवादी दार्शनिकों की अवधारणा इससे भिन्न है। उन्होंने ईश्वर के स्थान पर दूसरे तत्त्वों की सत्ता स्वीकार की है। जैन दर्शन का इस संदर्भ में स्वतंत्र अभिमत है। भगवान महावीर ने प्रतिपादित किया है कि यह विश्व शाश्वत द्रव्यों के योग से संचालित है। वे परस्पर सापेक्ष हैं। कोई सर्वशक्ति संपन्न उनका संचालक नहीं है। पांच तत्त्वों के योग से यह जगत स्वतः संचालित है। ये तत्त्व हैं—काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ और कर्म। संसार में घटित होने वाली प्रत्येक घटना के पीछे कहीं न कहीं ये हेतुभूत हैं। इनका ठीक-ठीक अनुपात निकाल पाना बौद्धिकता से परे का विषय है। अतींद्रिय ज्ञान के आधार पर ही इसे मीमांसित किया जा सकता है।

वस्तु का स्वभाव उसके होने का मुख्य कारक है। कोई व्यक्ति अग्नि के पास बैठ कर शीतलता की कामना करे तो वह कामना-पूर्ति अशक्य है। अग्नि का स्वभाव शीतलता नहीं, उष्णता है। अग्नि की उष्णता से कोई भोजन तैयार करना चाहे तो एक निश्चित काल-मर्यादा तक उसका सतत उपयोग करना होगा। दो-पांच मिनिट के ताप से कभी भोजन बन कर तैयार नहीं होता। दाहकता अग्नि की नियति है। अपने कर्मानुसार अग्निकाय के जीव अशुभ विपाक का अनुभव भी करते हैं। अग्नि के साथ जब व्यक्ति का पुरुषार्थ जुड़ जाता है तो वही अग्नि उपयोगी हो जाती है।

भगवान महावीर ने इन पांच समवायों में पुरुषार्थ पर सर्वाधिक बल दिया है। उन्होंने कहा—**पुरिसा! परमखक्खू**

विप्परकमेज्जा—पुरुष! तू अपने पुरुषार्थ को जगा। —वही व्यक्ति लक्षित मंजिल को प्राप्त होता है, जिसका पुरुषार्थ जाग्रत है। जो अपने पुरुषार्थ को सुला देता है, वह बीच में ही निराश हो बैठ जाता है। उत्थान, बल, कर्म, वीर्य, पुरुषाकार और पराक्रम ही उसे अपनी मंजिल तक पहुंचाते हैं। अपने सुख-दुख का कर्ता व्यक्ति स्वयं है। वह भाग्य के यंत्र का पुर्जा नहीं है। वह भाग्य को बनाता है, भाग्य उसे नहीं बनाता है। अपनी उत्क्रांति और अपक्रांति के लिए मनुष्य स्वयं जिम्मेवार है। कोई 'भगवान' हाथ पकड़ कर उसे सही रास्ते पर नहीं ला सकता। भगवान का कार्य पथ-दर्शन है। चलना स्वयं को होता है।

भगवान महावीर के तत्त्व दर्शन का आधार पुरुषार्थ है। उन्होंने नव-तत्त्व की व्याख्या के संदर्भ में कहा—आत्मा का पुरुषार्थ ही कर्मों के बंध अथवा क्षयोपशम का हेतु होता है। बंधे हुए कर्म के शुभाशुभ रूप में उदय आने पर पुण्य-पाप कहलाते हैं। आश्रव कर्म के आगमन का हेतु है और संवर से कर्म रुकते हैं। तपश्चर्या के द्वारा पूर्वसंचित पाप का निर्जरण/क्षय होता है। समस्त कर्म-मलों को दूर कर जीव सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो जाता है।

पुरुषार्थ ही मनुष्य को मानव से महामानव बनाता है। आत्मा को परमात्मा बनने की दिशा में ले जाता है। जब व्यक्ति हिंसा, झूठ, चोरी आदि गलत कार्यों में प्रवृत्त होता है, तब वह मानव से दानव बन जाता है। अपने पुरुषार्थ को सही दिशा में नियोजित करने पर चोर, डाकू और हत्यारे भी संत बन जाते हैं। पुरुषार्थहीनता की स्थिति में व्यक्ति साधना के मार्ग पर आकर भी जहां का तहां खड़ा रहता है। पुरुषार्थ को जगाने के लिए भगवान महावीर ने कहा—**न णिण्हूएज्ज वीरियं**—तू अपनी शक्ति का गोपन न कर।

शक्ति होना एक पहलू है और उसका सदुपयोग करना सर्वथा दूसरा। अल्प शक्तिवाला व्यक्ति निरंतर चलने पर मंजिल तक पहुंच जाता है और गति के अभाव में प्रबल शक्तिशाली भी ठिठक कर रुक जाता है। व्यक्ति अपने सामर्थ्य का आध्यात्मिक दृष्टि से सही उपयोग तब ही कर सकता है, जब वह आलस्य, प्रमाद और आसक्ति के चक्र से दूर होता है। इनमें फंसने पर व्यक्ति जीवन-दांव को हार जाता है। अंततः विफलता ही उसके हाथ लगती है। संकल्प अपने-आप में कभी छोटा व बड़ा नहीं होता। व्यक्ति का पुरुषार्थ ही उसे छोटा और बड़ा बनाता है। पुरुषार्थ की प्रबलता होने पर हजारों मील की दूरी भी अकिंचितकर हो जाती है। जबकि सुषुप्ति की स्थिति में व्यक्ति की गति एक कक्ष से दूसरे कक्ष में भी नहीं हो पाती।

भगवान महावीर द्वारा उद्घोषित अप्रमाद का संदेश—**उट्ठिए णो पमायए**—उठने के बाद प्रमाद कैसा! प्रकारांतर से यह पुरुषार्थ का ही संदेश है। उन्होंने पदार्थ की परिक्रमा से उपरत हो पुनः-पुनः अंतर्यात्रा करने की प्रेरणा दी। महावीर मन के बहानों से सुपरिचित थे, इसलिए उनसे लोहा लेने का संदेश दिया। उन्होंने कहा—'कोई भगवान हाथ पकड़ कर तुम्हें उस पार ले जाने वाला नहीं है। भवसागर से पार पाने के लिए तुम्हें स्वयं अपना पुरुषार्थ जगाना होगा।' मंजिल उसी को मिली है जो सदा जाग्रत रहा है।

वर्तमान संदर्भ में भगवान महावीर के पुरुषार्थ दर्शन की प्रासंगिकता इसी में है कि हम अपने-आप को संयम से जोड़ें। बहुत बार व्यक्ति सोचता है कि अभी अध्यात्म का अभ्यास करने की इतनी क्या जल्दी है? अभी तो जीने के लिए बहुत लंबा काल-खंड सामने है। बुढ़ापे में धर्म के सिवाय करने के लिए रहेगा भी क्या? पर, महावीर ने इस बात को उलट कर इस रूप में कहा—

जरा जाव न पीलेइ वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति ताव धम्मं समायरे।।

तू तब तक धर्म का अभ्यास करता चल, जब तक बुढ़ापे का तुम्हारे पर आक्रमण न हो जाए। तुम्हारा शरीर रोगों से न घिर जाए। तुम्हारी इंद्रियों की शक्ति क्षीण न हो जाए।

महावीर शरीर के स्वभाव से ही नहीं, शक्ति-जागरण के क्रम में आने वाली बाधाओं से भी सुपरिचित थे, इसीलिए उन्होंने इस संबंध में सबको आगाह किया। बुढ़ापा, बीमारी और इंद्रिय विकलता—इन तीन बाधाओं को पार करके ही व्यक्ति अपने गंतव्य की ओर आगे बढ़ सकता है। शक्ति-जागरण के बिना अध्यात्म की यात्रा असंभव है। बचपन से ही जो लोग अपनी जीवन-शैली को संयम के सांचे में ढाल लेते हैं, उसके लिए इन खतरों की प्रभावकता कम हो जाती है। इसके विपरीत, असंयम में ही रचे-पचे रहने वालों को ये खतरे बहुत बार समय से पूर्व ही दबोच लेते हैं। उनकी शक्ति कुंठित हो जाती है। वे निराशामय जीवन जीने को विवश हो जाते हैं।

निराशा के अंधेरे में पुरुषार्थ आशा की एक प्रकाश-किरण है। समस्या के सागर में समाधान की नौका है। ❖

चार बाल बोध कथाएं

आनंद किसी बात में नहीं, बल्कि अपने मन में है। हम जिस बात में आनंद-खुशी अनुभव करें, वह उसी में है। अच्छा मनुष्य और अच्छा विचार, हम चाहे उसे पूरी तरह न पहचानें, न समझें, तब भी उसका संपर्क हम पर अपना प्रभाव डालता है। •

यह क्या बात हुई? बात यह हुई कि राष्ट्रपति पर लड़की की ईमानदारी का प्रभाव पड़ा और उन्होंने सोचा कि जो लड़की खतरे के समय भी झूठ नहीं बोली, वह ईमानदार है और जेल में पहुंच कर भी कोई ऐसा काम नहीं कर सकती, जो उसकी ईमानदारी के विरुद्ध हो। •

बुरे आदमियों से दूर रहा जाए और इसका सबसे उत्तम उपाय यही है कि उनसे बातचीत न की जाए, संबंध ही न रखा जाए, क्योंकि थोड़ा संबंध रखने पर बुरे लोग और ज्यादा पास आ जाते हैं। •

छुट्टियां एक तरह की कसौटी हैं, जिन पर कस कर हम यह जान सकते हैं कि कौन क्या है और क्या बनेगा। आप अपनी छुट्टियों का क्या उपयोग करते हैं और जो उपयोग करते हैं, क्या वह ठीक है या उससे भी अच्छा दूसरा कोई उपयोग हो सकता है? •

❑

कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'

❑ ❑

बालकथा

दो पत्र, तीन बातें

ऐसा कौन है, जिसके पास मित्र और रिश्तेदारों के पत्र नहीं आते? और ऐसा कौन है, जिसे दूसरे काम छोड़ कर पत्रों को पढ़ने में आनंद नहीं आता? जो पढ़े-लिखे नहीं हैं, उनके पास जब कहीं से कोई पत्र आता है, तो वे किसी पढ़े-लिखे से पढ़वाने के लिए दौड़े-दौड़े फिरते हैं। जीवन में ऐसी घड़ियां भी आती हैं, जिनमें मित्रों से ज्यादा उनके पत्र का इंतजार रहता है।

तब क्या पत्र का आनंद उसे पढ़ने में ही है? बात तो ऐसी ही है, पर यह नहीं है। बात 1930 की है। प्रोफेसर तान-युन-शान तिब्बत गए और दलाई लामा के पास ठहरे। उन दोनों में बौद्ध धर्म के बारे में तो बातें हुईं ही, गांधीजी के बारे में भी काफी बातें हुईं। जब प्रोफेसर तान-युन-शान भारत के लिए चलने लगे, तो दलाई लामा ने गांधीजी के नाम एक पत्र अपने हाथ से लिख कर प्रोफेसर तान को दे दिया।

भारत पहुंच कर प्रोफेसर तान ने वह पत्र गांधीजी को दे दिया। वह पत्र भोट भाषा में लिखा हुआ था। गांधीजी भोट भाषा नहीं जानते थे। उन्होंने प्रोफेसर तान से उसका अनुवाद करने को कहा, पर वे भी भोट भाषा नहीं जानते थे। गांधीजी बोले—'तब तो इस पत्र की बात मैं कभी न जान सकूंगा।'—यह बात उन्होंने कुछ इस अंदाज से कही कि सब हंस पड़े। बिना पढ़ा पत्र गांधीजी

के पास रखा रहा। प्रोफेसर तान को यह देख कर आश्चर्य हुआ कि बिना पढ़े भी गांधीजी को उस पत्र के आने से बहुत खुशी हुई और वे कई दिन तक उसका आनंद लेते रहे।

एक दिन प्रोफेसर तान ने गांधीजी से पूछा—'क्या आप दलाई लामा के पत्र का उत्तर देंगे?'—गांधीजी ने कहा—'जरूर, मैं दलाई लामा को पत्र लिखूंगा, पर वह इस पत्र का उत्तर नहीं होगा, क्योंकि मैं नहीं जानता कि इस पत्र में क्या लिखा है। तिब्बती भाषा मैं जानता नहीं, इसलिए मैं अपना पत्र गुजराती में लिखूंगा। दलाई लामा भी मेरा पत्र पढ़ न सकेंगे, पर मेरी ही तरह पत्र पाने का आनंद लेते रहेंगे।'

यह क्या बात हुई ? पहली बात तो यह हुई कि आनंद किसी बात में नहीं, बल्कि अपने मन में है। हम जिस बात में आनंद-खुशी अनुभव करें, वह उसी में है। दूसरी बात यह कि अच्छा मनुष्य और अच्छा विचार, हम चाहे उसे पूरी तरह न पहचानें, न समझें, तब भी उसका संपर्क हम पर अपना प्रभाव डालता है, जैसे आग अबोध बालक को भी जलाती है। तीसरी बात यह है कि हमें हमेशा अपनी भाषा को पूरा महत्त्व देना चाहिए और विदेशी भाषा के झूठे मोह में नहीं पड़ना चाहिए।

ईमानदार लड़की

बात तब की है जब अब्राहम लिंकन अमरीका के राष्ट्रपति थे।

अमरीका के दो राजनीतिक दलों में घरेलू लड़ाई हो रही थी। एक दल का नाम था 'यूनियन' और दूसरे का 'कानफिडरेट'।

सरकार यूनियन दल के हाथ में थी और कानफिडरेट दल सरकार का विरोधी था। अमरीका बहुत-से राज्यों से मिलकर बना देश है, इसीलिए उसे 'मिले हुए राज्यों का देश' कहते हैं।

वरजीनिया नाम का राज्य कानफिडरेट लोगों का था और सरकार के विरुद्ध लड़ रहा था। एक दिन वहां की एक जवान लड़की आई और उसने अफसर से कहा—'मैं राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन से मिलना चाहती हूं?'

अफसर ने कहा—'तुम्हें क्या काम है?'

लड़की ने कहा—'मेरा भाई सरकार के खिलाफ लड़ते हुए गिरफ्तार हो गया था। वह राजधानी की जेल में है। मैं उससे मिलने आई हूं और राष्ट्रपति से इसी काम की इजाजत चाहती हूं।'

लड़की देखने में सुंदर और बोलचाल में भली थी। अफसर ने उससे कहा—'तुम्हें देख कर मुझे दया आती है, इसीलिए में तुम्हें सलाह दे रहा हूं कि तुम राष्ट्रपति से मत मिलो।'

—'क्यों ?'—लड़की ने आश्चर्य से पूछा।

अफसर ने कहा—'तुम्हारा भाई सरकार का दुश्मन है। यह बात सुन कर राष्ट्रपति तुम्हें भी गिरफ्तार कर जेल में बंद कर देने का हुक्म दे देंगे।'

लड़की मुस्कराई—'तुम मेरी चिंता छोड़ो, मुझे राष्ट्रपति से मिला दो।'—अफसर ने लड़की को राष्ट्रपति के सामने पेश कर दिया। राष्ट्रपति ने लड़की को ध्यान से देखा और तब पूछा—'मुझे विश्वास है कि तुम देशभक्त हो!'

राष्ट्रपति का इशारा यह था कि तुम ऐसे आदमी से क्यों मिलना चाहती हो, जो हमारे देश का दुश्मन है। पर लड़की ने निडर होकर दूसरा उत्तर दिया।

उसने कहा—'बेशक, राष्ट्रपति महोदय, मैं आपके देश की नहीं, अपने देश वरजीनिया के प्रति पूरी तरह देशभक्त हूं।'

राष्ट्रपति ने एक पर्चा लिख कर लड़की के हाथ में दे दिया और कहा—'जाओ !' अफसर ने रास्ते में कहा—'मैंने पहले ही कहा था कि सरकार के दुश्मनों से सहानुभूति दिखाने का नतीजा ठीक न होगा, अब जाओ, पड़ो तुम भी जेल में !'

बात उलटी पड़ी। अफसर ने बाहर आकर पर्चा पढ़ा, तो उसमें साफ लिखा था—'लड़की को अपने भाई से जेल में मिलने की इजाजत है। यह ईमानदार है और इस पर पूरी तरह विश्वास किया जा सकता है।'

यह क्या बात हुई ? बात यह हुई कि राष्ट्रपति पर लड़की की ईमानदारी का प्रभाव पड़ा और उन्होंने सोचा

कि जो लड़की खतरे के समय भी झूठ नहीं बोली, वह ईमानदार है और जेल में पहुंच कर भी कोई ऐसा काम नहीं कर सकती, जो उसकी ईमानदारी के विरुद्ध हो। मतलब यह कि जो लोग ईमानदारी और सत्य को नहीं छोड़ते, दुश्मन भी अपने मन में उनका सम्मान करते हैं।

बुरे आदमी के साथ

दरबार लगा हुआ था और अकबर बादशाह अपने सिंहासन पर बैठे थे। अचानक उन्होंने अपने वजीरों से एक प्रश्न पूछा—'अगर अपने सामने कोई नालायक (खराब) आदमी आ जाए तो क्या करना चाहिए ?'

बादशाह का प्रश्न कुछ उलझा हुआ था, इसलिए उन्होंने खुद ही उसकी सफाई करते हुए कहा—'मेरा मतलब यह है कि नालायक और खराब आदमी सही बात कह नहीं सकता, सही व्यवहार कर नहीं सकता, तो उसकी बात का जवाब कैसे दिया जाए, उसके साथ व्यवहार कैसे किया जाए ?'

किसी ने कहा, उसे पीट कर भगा दिया जाए, तो किसी ने कहा, उसे जेल में बंद कर दिया जाए। बातचीत हो ही रही थी कि बीरबल आ गए। बादशाह ने अपना प्रश्न उनके सामने भी रख दिया। बीरबल ने कहा—'बादशाह सलामत, यह प्रश्न बहुत गंभीर है, इसलिए मैं इसका जवाब सोच-विचार के बाद कल दूंगा।'—बादशाह ने उनकी बात मान ली।

दूसरे दिन बीरबल दरबार में आए, तो उनके साथ एक आदमी और था। नंगे पैर, नंगे सिर और शरीर पर एक मामूली चादर ओढ़े हुए। बीरबल ने कहा—'हुजूर, ये एक बहुत पहुंचे हुए फकीर हैं, रात-दिन ईश्वर की पूजा-प्रार्थना में लगे रहते हैं। आपके प्रश्न का उत्तर देने के लिए मैं इन्हें मिन्नत करके ले आया हूं। आप अपना प्रश्न इनसे पूछें। ये उसका ठीक-ठीक उत्तर देंगे।'

बादशाह अकबर ने अपना प्रश्न उनके सामने रख दिया—'फकीर साहब, अगर अपने सामने कोई नालायक (खराब) आदमी आ जाए, तो उसे कैसे जवाब देना चाहिए, उससे कैसे व्यवहार करना चाहिए ?'

फकीर साहब ने बादशाह के प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया और चुपचाप बैठे रहे। बादशाह ने समझा कि फकीर साहब मेरा प्रश्न नहीं समझे, इसलिए उन्होंने कई तरह से अपना प्रश्न दोहराया, पर फकीर ने कोई उत्तर नहीं दिया। यह सोच कर कि शायद फकीर साहब बहरे हैं, कम सुनते हैं, बादशाह ने खूब जोर से अपनी बात कही, पर फकीर साहब ज्यों-के-त्यों चुप रहे।

अब बादशाह हैरान कि बात क्या है? फकीर साहब चुप हैं और मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं देते। उन्होंने बीरबल की तरफ देखा, तो बीरबल ने खड़े होकर कहा—'जहांपनाह, फकीर साहब ने आपके सवाल का जवाब दे तो दिया कि जब अपने सामने कोई नालायक (खराब) आदमी हो तो चुप रहना चाहिए, उसकी बातों में नहीं उलझना चाहिए, उसकी उपेक्षा करनी चाहिए, उसे मुंह नहीं लगाना चाहिए।'—बीरबल की बात सुन कर बादशाह बहुत खुश हुए। बीरबल की उन्होंने प्रशंसा की और फकीर को भेंट देकर विदा किया।

कहानी का मतलब यही है कि बुरे आदमियों से दूर रहा जाए और इसका सबसे उत्तम उपाय यही है कि उनसे बातचीत न की जाए, संबंध ही न रखा जाए, क्योंकि थोड़ा संबंध रखने पर बुरे लोग और ज्यादा पास आ जाते हैं और बाद में उनकी बुराइयों का फल भलों को भी भोगना पड़ता है।

हमारी छुट्टियां

सन् 1969 ई. में एक दिन मेरे मन में आप ही आप एक सवाल उठा कि देश के ऐसे बालकों को, जिनकी उम्र दस से चौदह साल तक है—सबसे ज्यादा खुशी उनको किस दिन होती है ? मैं घर से उठ कर तीन जूनियर हाई स्कूलों में गया। वहां मैंने दस किशोरों से अलग-अलग एक सवाल पूछा—'तुम्हें सबसे ज्यादा खुशी किस दिन होती है?'

दस के दस ने एक ही उत्तर दिया—'छुट्टी के दिन सबसे ज्यादा खुशी होती है।'

मैंने उनमें से पांच से यह नया प्रश्न पूछा—'छुट्टी के दिन खुशी क्यों होती है ?'

दो उनमें चुप रहे, दो ने कहा—'उस दिन खूब

खेलते हैं।'—और एक की राय थी—'छुट्टी के दिन कोई बंधन नहीं होता, चाहे जब उठो, चाहे जब खेलो।'

इस बातचीत में मुझे आनंद आया और जब गरमियों की लंबी छुट्टियां हुईं, तो मैंने बहुत-से किशोरों से एक नया प्रश्न पूछा—'तुम छुट्टियों में क्या काम करते हो?' अधिकतर किशोरों का भाव यह था कि छुट्टियों में योजनापूर्वक कोई काम करने की बात उन्होंने सोची ही नहीं; बस वे यों ही समय बिता रहे हैं, पर कई उत्तर बड़े काम के थे।

एक ने कहा—'मेरी मां बीमार रहती है, फिर भी घर का काम करती है। मैं छुट्टियों में उसे ज्यादा काम नहीं करने देता। उसे आराम करने देता हूं और उसी पूछ-पूछ कर घर के काम करता हूं। उसके हाथ-पैर दबा देता हूं, जिससे वह सो जाती है।'

एक ने कहा—'मैं छुट्टियों में मोहल्ले के मजदूर बालकों को पढ़ाता हूं, जिससे वे ज्यादा नहीं तो चिट्ठी लिखने-पढ़ने के लायक हो जाएं।'

एक ने कहा—'मैं तो लाइब्रेरी में एक दोस्त के साथ जाकर अखबार पढ़ता हूं और वहां से पुस्तकें लाकर उन्हें घर पर पढ़ता हूं, बड़ा मजा आता है।'

एक ने कहा—'मैं तो हर साल छुट्टियों में एक ही काम करता हूं कि अगली क्लास की पुस्तकें पढ़ता रहता हूं। कुछ समझ में आती हैं, कुछ नहीं, फिर भी इतना तो ज्ञान हो ही जाता है कि स्कूल खुलने पर जब मास्टरजी से पढ़ता हूं, तो हरएक पाठ दिल में बैठ जाता है और मैं हमेशा क्लास में अव्वल, प्रथम आता हूं।'

मतलब यह है कि छुट्टियों का अर्थ यह नहीं कि हम अपना समय सोने, इधर-उधर बिना मतलब घूमने या दूसरी फालतू बातों में खोएं। ऐसे बहुत-से काम हैं, जिनमें हम उनका अच्छा उपयोग कर सकते हैं।

छुट्टियां एक तरह की कसौटी हैं, जिन पर कस कर हम यह जान सकते हैं कि कौन क्या है और क्या बनेगा।

आप भी स्वयं सोचिए कि आप अपनी छुट्टियों का क्या उपयोग करते हैं और जो उपयोग करते हैं, क्या वह ठीक है या उससे भी अच्छा दूसरा कोई उपयोग हो सकता है? ❖

घर–परिवार और मित्र–परिजनों के यहां खुशी के अवसरों पर 'जैन भारती' उपहार के रूप में एक वर्ष, तीन वर्ष या दस वर्ष तक भिजवाकर आप आध्यात्मिक–नैतिक मूल्यों के विकास में योगदान दे सकते हैं। जन्म–दिन का उपहार हो या कोई अन्य अवसर, 'जैन भारती' अनुपम उपहार के रूप में भेंट के लिए हमें लिखें। आपकी ओर से हम यह कार्य करेंगे।

जैन भारती एक संपूर्ण पत्रिका है।
वैचारिक उन्मेष और परिष्कृत रंजन के लिए
जैन भारती पढ़ें—सबको पढ़ाएं।

व्यवस्थापक
जैन भारती
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

बिनोदकुमार चोरड़िया, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं प्रेषित और सांखला प्रिंटर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

Om Bhikshu Jai Tulsi

With best compliments

Pannalal Baid
Sobhag Devi Baid

FRIENDSHIP OF THOSE WHOM WE SERVE
IS FOUNDATION OF OUR PROGRESS

BAID LEASING AND FINANCE CO LTD
3, Jaipur Towers, Opp All India Radio
M.I. Road, JAIPUR 302001
Ph : +91 141 2363358 2363359
Email : baidauto@hotmail.com

•

TRADESWIFT
(The Commodity and Share Broker)
Member : NSE MCX NCDEX NMCE
'Baid House', 1, Taranagar, Ajmer Road, JAIPUR 302006
Ph : +91 141 2221234 2224553 2224793
Email : contact@tradeswift.net

BAID ART WORLD
1, Usha Plaza
M.I. Road, JAIPUR 302001
Ph : +91 141 2371767 3299375

जैन भारती, मार्च, 2009
प्रेषण दिनांक 28 फरवरी, 09

भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पंजीयन संख्या : बीकानेर/048/2009-2011

प्रेषक : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401 • फोन : 0151-2270779

नोट : आपके पते में कोई कमी, अशुद्धि या पिन-कोड नहीं हो तो कृपया सूचित करें। ग्राहक संख्या अवश्य लिखें।